Part 2, Chapter 6



# अध्याय -- ६

## साठोत्तरी उपन्यास -- (२)

पूर्ववर्ती अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रस्तुत अध्याय में केवल उन औपन्यासिकों की रचनाओं को समीक्षार्थ लिया जायगा जिनका कृतित्व सन् साठ के बाद प्रकाश में आया है। इन उपन्यासकारों ने पूर्वनिर्दिष्ट साठोत्तरी मानसिकता को अधिक सशक्त रूपमें उकेरा है, क्योंकि उनका लेखन पांचवे अध्याय के औपन्यासिकों की तुलना में अपने लेखन के पूर्व-संस्कारों से अधिक मुक्त है। ग्राम्य, कस्बाई और महानगरीय जीवन के त्रिस्तरीय आयामों को इन्होंने विशेषत: उद्घाटित किया है। यहां क्रमश: उनके अध्ययन को प्रस्तुत किया जा रहा है।

### अलग अलग वैतरणी ( १९६७ )

डॉ० शिवप्रसादसिंह ग्रामीण जीवन के सिद्धहस्त चितेरे हैं। 'अलग अलग वैतरणी' ग्राम्य-जीवन के सतरंगी एवं सतपाखी आयामों को उभारने वाली एक सशक्त औपन्यासिक रचना है। इसमें स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के टूटते हुए गांव की कथा-व्यथा को मानवीय संवेदना के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है कि दर्द की पर्त-दर-पर्त उघड़ती गयी है और गांव के जीवन की नाना वैतरणियां उपन्यास के बृहद कैनवास पर उभरती गयी हैं।

कथा का प्रवाह कहीं भी समरस नहीं है। कहीं क्षिप्र, कहीं मन्द, कहीं अतीत की मुग्ध स्मृतियों में खोया हुआ, कहीं वर्त्तमान की कठोर चिलचिलाती धूप में लू के झोंकों से झुलसता हुआ, कहीं ज्योति के एक किरण से आशा-अभिलाशा की पगडण्डी तलाशता हुआ तो कहीं भविष्य की कलिमिषिनी के तम में सराबोर डूबा हुआ कथा-प्रवाह हमारे हृदय-तन्त्री के तारों को छूता चलता है। कथा कभी आगे से पीछे की ओर तो कभी पीछे से आगे की ओर चलती है। विपिन, जैपालसिंह, बुझारथसिंह,डा०देवनाथ, मास्टर शशिकान्त, जग्गन मिसिर, सरूप भगत, पटनहिया भाभी,

( दीपा ), कनिया ( बुझारथसिंह की पत्नी तारा ), खलील चाचा, सुखदेवराम, सुरजूसिंह, बुल्लू पण्डित ( दयाल ), आदि सभी मुख्य पात्रों की कथा-सरिता में देव-पाल--राजमती की प्रेम-कथा, पुष्पा-विपिन की प्रेमकथा, सोनवा चमारिन का करुण रूप, दुलरिया से उठती गांव की मिट्टी की सोंधी महक, सुगनी चमारिन के साथ गांव के बड़े लोगों की प्रणय-लीलाएं, जगेसर-हरिया-सिरिया आदि की टुच्चा हर-कतें, चमटोल के मुखियाओं के बटोरों की व्यंग्यपूर्ण कथा, मास्टर जवाहर सिंह का जघन्य एवं विकृत यौनाचरण, कल्पू व गोपाल की क क्लीवता की करुण-कथाएं तथा अन्य अनेक छोटे-मोटे पात्रों की छोटी-मोटी बातें झरने के रूप में मिलती जाती हैं और ग्राम्य-जीवन की यह गंगा वैतरणी में परिवर्तित होती जाती है। मनुष्य ही नहीं खेत-खलिहान, ताल-तलइयां तथा नदीनालों की कथाएं ( केवड़ार व सीपिया नाला का इतिहास ) भी इसमें वर्णित है। मेले-ठेले, उत्सव, शादी-ब्याह और लोक-गीतों व लोक कथाओं से प्रस्फुटित ग्राम्य-जीवन का संगीत इसके समस्त कथा-पट में अनुगुंजित है।

प्रारम्भ के लेखकीय वक्तव्य में लेखक ने संकेत देते हुए लिखा है : 'कहा जाता है कि सती-वियोग से व्याकुल शिव के आसुओं की धारा वैतरणी में बदल गयी। इस पुराण-कथा का प्रतीकार्थ जो हो, मुझे इसे पढ़ते हमेशा ही विक्षिप्त, बहिष्कृत, संत्रस्त और भीड़ के संगठित अन्याय के विरुद्ध जूझते शिव की याद आ जाती है। जब शिवत्व तिरस्कृत होता है, व्यक्ति के हक छीने जाते हैं, सत्य और न्याय अव-हेलित होते हैं तब जन-जन के आसुओं की धारा वैतरणी में बदल जाती है। नर्क की नदी बन जाती है।'[१] और इस उपन्यास में लेखक ने 'करैता' गांव के माध्यम से स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के भारतीय जन-जीवन की नाना वैतरणियों को तलाशने एक प्रामाणिक प्रयत्न किया है। यहां सभी पात्रों की अपनी-अपनी अलग वैतरणियां हैं। जैपालसिंह टूटती जमींदारी के प्रतीक हैं। वे करैता छोड़कर मीरपुर चले जाते हैं क्योंकि 'जिस धरती का चप्पा-चप्पा बबुआन के रौब और ऐश्वर्य की सांसों से भीगा है, उसी पर अपनी आखिरी हार की कहानी वे छोड़ना नहीं चाहते। मीरपुर में

---

१. 'अलग-अलग वैतरणी' : डॉ० शिवप्रसादसिंह : तटचर्चा।

उन्हें बदली आँखों से देखने वाला कोई नहीं था। वे सदा के जैपाल थे।[1] वे करैता में कदम न रखने की मन ही मन प्रतिज्ञा करते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी जिन्दगी के ज्यादा दिन लोगों के झुके माथे और झुकी आँखों में देखकर बिताये थे। उन्हें नीच जात वालों को तने सीधे देखने का ताव न था।[2] परन्तु ग्राम-सभा के चुनाव के समय उन्हें करैता आना पड़ता है क्योंकि वे सुरजूसिंह को गांव के सरपंच के रूप में नहीं देखना चाहते। वे इस पद पर अपने ही एक गुर्गे सुखदेवराम को बिठा देते हैं। टूटती जमींदारी की कसक तथा अपने पुत्र बुझारथसिंह के कारनामों से संत्रस्त पुत्रवधू (कनिया) के भविष्य की चिन्ता उनको वैतरणी है।

विपिन और देवनाथ जैसे शिक्षित नव-युवक गांव आते हैं। उनकी आंखों में सपने तैर रहे हैं। पर एक ही साल में उनका उत्साह ढेर हो जाता है। देवनाथ कस्बे में दवाखाना खोल लेता है और विपिन गाजीपुर डिग्री कालेज में प्रोफेसरी करता है। विपिन के ही शब्दों में करैता एक जीता-जागता नरक है जिसमें वही आता है जिसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं। चारों ओर कीचड़, बदबूदार नाबदान, गू-मूत, बीमारियाँ, कुलबुलाते कीड़े, मच्छर, जहरीली मक्खियाँ -- इस के बीच भुखमरी, डरावनी हड्डियों के ढांचे, किचरीली आंखों और बीमारी से फूले पेट वाले छोकरे, घरों में बन्द गन्दगी में आपाद-मस्तक डूबी औरतें जो एक-दूसरे को खुले आम चाराहे पर नंगियाने में ही सारा सुख और खुशी पाती हैं, धुंधवाते मन के अपाहिज जैसे नवयुवक जो अन्धेरी बन्द गलियों में बदफेली करने का मौका ढूंढते फिरते हैं, हारे-थके प्रौढ़ जो न गृहस्थी के जुए को उतार पाते हैं न उसमें उत्साह से जुत पाते हैं। मौत का इन्तजार करते बूढ़े बुटढ़े अपने ही बेटों-बेटियों से उपेक्षित बिलबिलाते रहते हैं -- यही है हमारी जन्मभूमि करैता।[3]

पर विपिन के निरुत्साहित होने का मुख्य कारण तो पुष्पी का ~~बिबन~~ विवाह था जिसे वह बचपन से चाहता रहा और जिसे वह अपने पुराने संस्कार तथा भीतरी कायरता के कारण स्वीकार न सका। गांव की सड़ियल स्थिति, पुष्पा के विवाह से उत्पन्न मनोभंग अवस्था, बड़ेभाई बुझारथसिंह की नालायकी के कारनामे,

---

१. अलग अलग वैतरणी : पृ० ८८। २. वही : पृ० ३२। वही : पृ० ६६३-६६४।

भाभी ( कनिया ) की करुण स्थिति आदि की वैतरणी में डूबता -उतराता रहता है। जग्गन मिसिर का भावी जीवन एक वैतरणी बन गया है। गोपाल और कप्पू कुसंग की वैतरणी के शिकार हैं। गांव के मनचले लोगों की घिनौनी वैतरणी है चमटोल। बुझारथसिंह और सुगनी तथा सुरजूसिंह और सुगनी के अनैतिक सम्बन्ध, जगेसर की यौन विकृति ( नंगी औरतों की तस्वीरें रखना इत्यादि ), हेड मास्टर जवाहरसिंह का अपने ही शिष्य के साथ हमबिस्तर होना तथा उससे पत्नी का काम चलाना यह बड़ी बीहड़, जघन्य और दुस्तर काम की वैतरणी है। खलील चाचा के खेत देवी चौधरी द्वारा अन्याय से हथिया लिये जाते हैं। सत्य और न्याय उपेक्षित हो होता है। सोनवा के पिता को न्याय नहीं मिलता। जगेसर बायस्कोप की फेरी करने वाले को पुलिस की धौंस दिखाकर उसकी एक दिन की कमाई छीन लेता है। दीपा एक शिक्षित व संस्कारी लड़की ( पटनहिया भाभी ) कल्पू जैसे तन-मन के रोगी व नपुंसक के गले मढ़ दी जाती है। जिन्दगी एक तड़प, एक कसक बनकर रह जाती है। उसकी यौन-क्षुधा उसे बच्चों को नंगा करने के लिए प्रेरित करती है। अपने पूरे उत्साह के बावजूद मास्टर शशिकान्त को गांव छोड़ना पड़ता है। हेड मास्टर जवाहरसिंह तथा सुरजूसिंह के गुर्गे उसे लांछित ही नहीं करते बल्कि उसे लूट भी लेते हैं। बरसों की सेवा के बावजूद बुझारथसिंह अपने नौकर दुक्खन को बुरी तरह से पीटते हैं। भिनकू और उसके पुत्र घुरबिनवा को गांव से बहिस्कृत होना पड़ता है। यह और ऐसे अनेक लोगों के आंसुओं की वैतरणी उपन्यास में सर्वत्र मिलती है।

इस प्रकार इस समूची कहानी के भीतर दर्द की एक अन्त:सलिला स सदैव बहती रही है। यह मानवीय संवेदना उसे महज ग्रामीण जीवन का दस्तावेज होने से बचा लेती है। ' तटचर्चा ' में लेखक ने उपन्यास के आंचलिक गिने जाने पर उसका महत्व सीमित हो जाने की आशंका प्रकट की है। परन्तु यह धारणा भ्रामक है। उपन्यास के आंचलिक होने से उसका महत्व कम या संदिग्ध कभी नहीं होता। सतही दृष्टि और ऊपरी गतिविधियों के कारण कोई उपन्यास अनांचलिक होते हुए भी निहायत सामान्य-सा रह जाता है, जबकि दूसरी ओर गहरी मानवीय संवेदना और अपनी ज़मीन से जुड़े रहने के कारण आंचलिक उपन्यास भी मानवता की अमूल्य निधि बन सकता है। अपने इन्हीं गुणों के कारण ' मैला आँचल ', ' आधा गांव ' तथा ' जल टूटता हुआ ' आंचलिक होते हुए भी हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियों में परिगणित होते हैं : और ऐसी ही एक उपलब्धि है -- अलग अलग वैतरणी।

इस ६८८ पृष्ठ के बृहद्काय उपन्यास में ग्रामीण जीवन का यथार्थ अपनी समग्रता के साथ उजागर हो उठा है। पात्र कथा का निर्माण करते चलते हैं। कथा की बुनावट (Craft of the Novel) ऐसी है कि बाहर से बिखराव लगता है, परन्तु भीतर से देखने पर एकसूत्रता एवं सुसम्बद्धता को लक्ष्य किया जा सकता है। इस प्रकार 'करैता' गांव की समस्या एक प्रकार से पूरे भारत की समस्या है। डा० हेमचन्द्र जैन के अनुसार स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय समाज का सशक्त, यथार्थवादी और व्यंग्यात्मक चित्र उभरकर आता है -- 'अलग अलग वैतरणी' में जो इसे एक अतिरिक्त विशिष्टता दे देता है।[1]

जमींदारी उन्मूलन से उत्पन्न रिक्तता को भरा गया है अधपढ़-अनपढ़, विवेकहीन, स्वार्थान्ध, सामान्य लोगों की अधकचरी, फूहड़ और गलाकाटू स्पर्द्धा से भरा गया है। नवोदित धनिक वर्ग और जमींदार भी उसमें शामिल हैं। जमींदार के मुंह सत्ता का खून लग चुका था अतः वह कहीं रातोंरात कांग्रेसी बनकर तो कहीं अपने गुर्गों के द्वारा सत्ता को हथियाने की कोशिश करने लगे। आजादी के बाद कांग्रेस में कैसे कैसे भ्रष्ट लोग आये उसका संकेत हमें 'मैला आंचल' में ही मिल गया था। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस में निष्ठावान लोग या तो बहिष्कृत हुए या वे भी रंगे सियार बन कर रह गये। 'अलग अलग वैतरणी' का सुखदेवराम एक ऐसा ही पात्र है।

'करैता' गाँव की समग्र कुरूपता के बावजूद उसमें लेखक ने कुछ ज्योति-बिन्दुओं को तलाशा है, जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि मानव की ज्योति-यात्रा अभी निःशेष नहीं हुई। ऐसे ज्योति-बिन्दु हैं -- विपिन, देवनाथ, मास्टर शशिकान्त, जग्गन मिसिर, खलील चाचा, स्वरूप भगत, कनिया, पटनहिया भाभी, पुष्पा आदि। उपन्यास के अन्त तक आते आते मोहभंग की स्थिति स्पष्ट हो चलती है और कनिया और जग्गन मिसिर को छोड़कर प्रायः सभी ज्योति-बिन्दु एक-एक कर गांव छोड़ जाते हैं। इनके द्वारा गांव को त्यागने की कसक उपन्यास को विशिष्ट सौन्दर्य प्रदान करती है और पाठक को भीतर से झकझोर देती है। जग्गन मिसिर के ये शब्द बार-बार कानों में गूंजते रहते हैं -- 'आप जा रहे हैं विपिन बाबू, जाइये।

---

१. 'आधार' : सातवाँ दशक मूल्यांकन विशेषांक : नवम्बर-७० --मई ७१ : पृ० ३८।

कोई इसके लिए आपको दोष भी नहीं देगा । सभी जाते हैं । हमारे गांवों से आजकल इकतरफा रास्ता खुला है । निर्यात । सिर्फ निर्यात । जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहां से चला जाता है । अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है । अच्छे मोटे ताजे जानवर, गाय, बैल, भेंड़े-बकरे जाते हैं । हट्ठे-कट्ठे मजबूत आदमी जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है, खींच लिये जाते हैं पल्टन में पुलिस में । मलेटरी में । मिल में । फिर वैसे लोग जिनके पास अक्ल है, पढ़े-लिखे हैं, यहां कैसे रह जायेंगे ? वे जायेंगे ही । जाना ही होगा ।"[१] जाते तो लोग पहले भी थे मगर अक्सर वे जिन्हें काम नहीं मिलता था या जो जमींदार के जोरो-जुल्म से आजिज आ गए थे ।" पर अब तो एक नये तरह का अनत गौन हो रहा है । यहां रहते वे हैं जो यहां रहना नहीं चाहते, पर कहीं जा नहीं पाते । यहां से अब जाते वे हैं जो यहां रहना चाहते हैं : पर रह नहीं पाते ।"[२] उपर्युक्त कथन में जहां एक ओर गहरी संवेदना और कसक है वहां दूसरी ओर वर्तमान विकृतियों पर प्रकारान्तर से चोट भी की गयी है । 'अलग अलग वैतरणी' की यह समस्या कुछ हद तक हमारे देश की भी समस्या है । हमारे देश का बुद्धिधन, हमारी सरस्वती शनैः शनैः विदेश जा रही है । डॉ० चन्द्रशेखर, डॉ० नार्लीकर, डॉ० खुराना आदि प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा प्रसिद्ध सीतारवादक रविशंकर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं । दूसरी ओर गांवों की प्रतिभा शहरों की ओर बढ़ती है, जिसमें गांव टूट रहे हैं । मूल्य टूट रहे हैं । नहीं टूटता है केवल अन्धकार-- जड़ता का अन्धकार । बिसू द्वारा गाया गया रहीम का यह दोहा हमारे मनो-मस्तिष्क पर बार बार पछाड़ता है ।

सर सूखे पंछी उड़ैं औरनि सरहिं समाहिं ।<br>
दीन मीन बिनु पंख के, कहु रहीम कहं जाहिं ॥ ।[३]

जग्गन मिसिर और कनिया ऐसे ही 'दीन मीन' हैं जो गाँव की नियति से जुड़े हुए हैं । संक्षेप में इस उपन्यास में लेखक गांवों के टूटते-बदलते मूल्यों की कराह को संवेदनशील पाठकों तक संक्रमित कर सका है, यही उसकी सफलता और कृति की सार्थकता है । जहां प्रस्तुत कृति में गांवों के टूटते मूल्यों की व्यथा है, वहां 'गली आगे मुड़ती है' में काशी नगरी को केन्द्र में रखकर विभिन्न जातियों के सांस्कृतिक जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हुए युवा-आक्रोश की नाना शक्लों को रूपायित करने का प्रयास हुआ है ।

---

१. अलग अलग वैतरणी : पृ० ६८५ । २. वही : पृ० ६८६ । ३. वही : पृ० ६६७ ।

## राग दरबारी ( १६६८ )

पिछले कुछ दशकों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यों का परिवर्तन बहुत तेजी से हुआ है। आशा की जाती थी कि सर्वहारा वर्ग का चौमुखी शोषण आज़ादी के बाद कम होता जायेगा और श्रम का महत्व बढ़ेगा। सदियों से पीड़ित मानवता की घोर तमिस्रा में अरमानों का सूरज आशा का नूतन संदेश लेकर उदित होगा। परन्तु आज़ादी के बाद देखा गया कि वे ही शोषक देश सेवकों का मुखौटा पहनकर फिर सामने आ गये। रेणु ने 'मैला आंचल' बावनदास के द्वारा इस स्थिति का पर्दाफाश बहुत पहले कर दिया था। राजनीति की यह काली अजगर-सी सर्वग्राहिणी छाया जीवन के तमाम अच्छे मूल्यों को ग्रसित करती गयी और गांव भी उसके प्रभाव से अछूते न रह सके। गांव के जीवन की इस टूटती हुई रीढ़ और बदलते हुए जीवन-मूल्यों को, उसकी विसंगतियों और विद्रूपताओं को आज के कथाकार ने बहुत गहराई से महसूस किया है। 'आधा गांव', 'अलग अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ', 'अंधेरे के विरूद्ध', 'सफेद मेमने', 'नदी फिर बह चली' आदि उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का नग्न यथार्थ एक दर्द के साथ अभिव्यक्त हुआ है। श्रीलाल शुक्ल द्वारा लिखित राग दरबारी' ग्रामीण-जीवन की इस मूल्यहीनता को व्यंग्यात्मक ढंग से रेखांकित करता है।

अपने इस व्यंग्यात्मक कथ्य और शिल्प के कारण 'राग दरबारी' ने पिछले दशक के उपन्यासों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। स्वयं लेखक के शब्दों में "'राग दरबारी' का सम्बन्ध एक बड़े नगर से कुछ दूर बसे हुए गांव की ज़िन्दगी से है जो पिछले बीस वर्षों की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवांछनीय तत्वों के आघातों के सामने घिसट रही है। यह उस ज़िन्दगी का दस्तावेज़ है।"[१]

फ्लैप पर दिए गये प्रकाशकीय वक्तव्य में उसे एक अनांचलिक उपन्यास बताया गया है, जिसका मतलब साफ है कि यह न केवल शिवपालगंज की कथा है बल्कि शिवपालगंज के माध्यम से ऐसे अनेकों गांव की कथा उसमें निहित है। यह

---

१. 'राग दरबारी' : लेखकीय वक्तव्य।

यह भारत के हर पिछड़े गाँव का कच्चा चिट्ठा है। उसमें हमारी शासन व्यवस्था व समाज पर व्यंग्य किया गया है।

'राग दरबारी' के केन्द्र में है शिवपालगंज, जहां के लोग और उनका गंजहापन। वस्तुत: उसकी कोई बन्धी हुई कथा नहीं है। कुछ पात्र, कुछ घटनाएं और कुछ झलकियां लेखक द्वारा इस प्रकार संयोजित की गयीं है कि उन्हें एक कथा का रूप मिल गया है। रंगनाथ बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधि है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश में बुद्धिजीवियों की जो कायरतापूर्ण तटस्थता रही है, उसका चित्रण सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की एक कविता में हुआ है --

एक थे हां हां, एक थे नहीं नहीं,
हां हां की गरदन हिली ऊपर-नीचे,
नहीं नहीं की दाएं-बाएं,
एक थे हां हां, एक थे नहीं नहीं।

रंगनाथ कुछ इसी प्रकार की अभिव्यक्ति को सार्थक करता हुआ प्रतीत होता है। वह कुछ तो छुट्टियां बिताने, कुछ थीसिस लिखने और कुछ अपना स्वास्थ्य बनाने के लिए शिवपालगंज मामा के यहां आता है। मामा हैं वैद्यजी जो शिवपालगंज के सर्वेसर्वा है। छंगामल इण्टर कालेज, को-ओपरेटिव यूनियन, स्थानिक ग्राम-सभा आदि सभी में वे महत्वपूर्ण पदों को शोभित करते हैं। बाहरी तौर पर उन्होंने अर्थोपार्जन के दो तरीके अपना रखे थे -- गरीबों का मुफ्त इलाज और फायदा न हो तो दाम वापिस। पहले के अनुसार उन्होंने कभी किसी गरीब का इलाज नहीं किया और दूसरे के लिए कभी मौका नहीं आया। वस्तुत: व गुप्त रोगों का इलाज करते थे। इस क्षेत्र में उनकी एक मूल स्थापना यह थी कि सारे रोग वीर्य की न्यूनता के कारण ही होते हैं। इस विषय में वे प्राय: सुकरात का उल्लेख करते हैं जिन्होंने शायद बताया है कि जिन्दगी में तीसरी से चौथी बार ब्रह्मचर्य का नाश करना हो तो पहले अपनी कब्र खोद लेनी चाहिए। उनकी राय में ब्रह्मचर्य न रखने से सबसे बड़ा हर्ज यह होता था कि आदमी बाद में चाहने पर भी ब्रह्मचर्य का नाश करने लायक नहीं रह जाता था। अस्तु, उसकी रक्षा के लिए उन्होंने भंग नामक एक पत्ती का अनुसन्धान कर लिया था, उसमें मेवा-मिष्टान्न मिलाकर खाने से स्वास्थ्य चंगा रहता है क्योंकि उससे वीर्य की पुष्टि होती है। रंगनाथ के 'केस' को भी वे इसी नजरिये से लेते हैं।

वैद्यजी के यहां एक दरबार बराबर लगा रहता है। असली शिवपालगंज वैद्यजी की बैठक में ही है। छंगामल इण्टर कालेज के प्रिन्सिपल, उनका मुंहलगा क्लर्क, सनीचर छोटे पहलवान, बद्री, रूप्पनबाबू आदि इस दरबार के विभिन्न पात्र हैं। रंगनाथ भी उनमें शामिल हो जाता है। प्रिन्सिपल साहब सुबह शाम दरबार में हाजिरी देते हैं और भंग का मजा भी लूटते हैं। हाफ पैन्ट और हाथ में डण्डे के साथ वे अपने को काफी चुस्त समझते हैं। उनकी आवेशात्मक अभिव्यक्तियां प्राय: अवधी भाषा में होती है। दो मामलों में वे बहुत होशियार हैं -- विभिन्न स्कीमें बनाकर सरकार से संस्था के लिए ज्यादा से ज्यादा पैसा बटोरना और येन केन प्रकारेण अपना स्थान सुरक्षित रखना। पढ़ने-पढ़ाने से उन्हें कोई मतलब नहीं। कालेज में अपना रास्ता निष्कण्टक रखने के लिए वे मास्टर खन्ना तथा मालवीय का बराबर विरोध करते रहते हैं और अन्ततोगत्वा इन दोनों का त्यागपत्र धाकधमकी के जोर पर वैद्यजी ले ही लेते हैं। खन्ना तथा मालवीयजी भी इन कारणों से पढ़ाने से अधिक स्थानिक राजनीति में डूबे रहते हैं। छंगामल इण्टर कालेज तथा शिवपालगंज की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना को लेखक ने इस प्रकार संजोया है कि इससे उपन्यास का व्यंग्यात्मक शिल्प अधिक निखर कर आया है। सनीचर जो हमेशा अण्डरवेयर पहने रहता है, वैद्यजी के इशारों पर ग्राम-सभा का सरपंच चुन लिया जाता है, । यहां पर लेखक ने चुनाव के हथकण्डों का भी व्यंग्यात्मक चित्रण किया है। सनीचर जैसे आदमी का प्रधान चुना जाना ही व्यंग्य की पराकाष्ठा है। तमंचे के जोर पर वैद्यजी कालेज के मैनेजमैण्ट का चुनाव कराते हैं और जीत जाते हैं। दूसरी ओर जोगनाथ जैसे लफंगे को पकड़ने वाले पुलिस अधिकारी का तबादला करवा देते हैं। ऐसी अनेक घटनाओं के द्वारा गांव में बढ़ते हरामीपन का संकेत लेखक ने दे दिया है।

होटल में बैठकर चाय की चुस्कियों के साथ दुकानदारिन के सारे इन्स-आउट देखने वाले तथा दुर्घटना की चिन्ता किए बिना नब्बे-सौ की स्पीड में ट्रक चलाने वाले ड्रायवर कहां नहं है ? सड़क को अपनी बपौती समझ कर बैलगाड़ी में सो जाने वाले किसानों की भारत में कमी नहीं है। रंगनाथ जैसे एम० ए० पास रिसर्च स्कालर हर जगह मिलेंगे जो पुलिस को कायरतावश दो रूपये रिश्वत में देते हैं, ट्रक का गियर पकड़ते हैं, वीर्य बढ़ाने के लिए भांग पीते हैं, अन्धश्रद्धावश कांस में गांठे लगाते हैं ताकि बजरंगबली प्रसन्न हों, हरेक अन्याय को देखते हुए जो केवल सोचते-विचारते रह जाते हैं, जो ऐसी मिट्टी के शेर हैं जो अकेले में गुर्राते तो बहुत हैं पर मौका पड़ने पर

दुम दबाकर भाग जाते हैं। वैद्यजी जैसे नेताओं की भी कमी नहीं जो अंग्रेजों के जमाने में उनके गुलाम थे और अब स्वतन्त्र भारत में मुखौटे बदलकर फिर जनतन्त्र-रूपी गाय को दुह रहे हैं। प्रिन्सिपल तथा सनीचर जैसे चमचे कहां नहीं ? और जहां ये होंगे मास्टर खन्ना और मालवीय अपने आप उग आयेंगे। जोगनाथ, बद्री, छोटू और दूरबीनसिंह जैसे गुण्डे और डकैत भी मिलेंगे क्योंकि इनके सहारे ही तो वैद्यजी जैसे लोग फलते-फूलते हैं। गले में रूमाल बांधकर छैला बनकर घूमने वाले रुप्पन जैसे छात्र भी मिल जायेंगे। एक मास्टर मोतीलाल हैं जो हमेशा अपनी आटाचक्की की ही रामायण पढ़ते रहते हैं। क्लास में आपात घनत्व का सिद्धान्त भी वे आटाचक्की के माध्यम से समझाते हैं और चालू क्लास से कई बार आटाचक्की की ओर निकल पड़ते हैं। उन्हें प्रिन्सिपल भी कुछ नहीं कह सकते क्योंकि वे वैद्यजी के खास आदमी हैं। गयादीन उपाध्यक्ष होते हुए आंखे मुंदे हुए रहते हैं। रामाधीन भीखमखेडवी युवकों को ताश के नये करिश्मे सिखाते रहते हैं। गयादीन की सुपुत्री बेला ने सिनेमा के सभी गीत याद कर लिये हैं और अब वह कुंआरी स्थिति को भोगने के लिए तैयार नहीं है।

ऐसी अनेकों घटनाएं और पात्र हैं और यह लेखक की कुशलता है कि पाठक इसमें कहीं भी ऊबता नहीं है। इस सन्दर्भ में डा० रामदरश मिश्र का यह मत उल्लेखनीय है -- " इतनी सारी जानी-पहचानी गति-विधियां, प्रसंग, घटनाएं, रोजमर्रा की जिन्दगी के इतने व्यापार बिखरकर एक नीरसता, ऊब और वितृष्णा की ही सृष्टि करते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। लेखक की कुशल कथा-विन्यास शक्ति ने सारी बातों को केन्द्रवर्ती स्थिति के चारों ओर इस तरह बुन दिया है कि मामूली लगने वाली बात भी उबाने की जगह रमाने लगती है। यह लेखक की एक बहुत बड़ी सफलता है कि उसने मामूलियत को, सपाटता को मामूली या सपाट-सी लगने वाली शैली में कहकर उसमें एक नया रस भर दिया है। लेखक चाहे मेले का चित्र खींच रहा हो, चाहे किसी यात्रा का, चाहे चुनाव का, चाहे प्रेम का, चाहे चौपाल का, चाहे लोगों के निबटने का, बहुत ही यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाता है।"[१] यहां तक कि लेखक ने जिन अवान्तर कथाओं को लिया है -- जिनमें कौडिल्ला न्याय, चुनाव-तरीकों के तीन नमूने, दूरबीनसिंह डकैत -- वे भी उसके इस व्यंग्यात्मक शिल्प को पुष्ट करती हैं। ग्रामीण जीवन पर कई उपन्यास लिखे गये पर ऐसी व्यंग्यात्मक लट्ठमार भाषा में यह पहला उपन्यास है। ४२४ पृष्ठ के इस बृहद् उपन्यास का प्रत्येक वाक्य व्यंग्य

---

१. `आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि` : पृ० १२७।

एवं वचन-वक्रता को लिए हुए है। 'वर्तमान शिक्षा-पद्धतिरास्ते में पड़ी हुई कुतिया है'[1] या 'ड्रायवर साहब तुम्हारा यह गीयर तो अपने देश की हुकूमत जैसा है'[2] आदि व्यंग्य बड़े पैने और सूक्ष्म है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक ही शैली का निर्वाह लेखक की कुशलता को इंगित करता है। 'राग दरबारी' की लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि का एक कारण उसकी यह नवीन शैली भी है। इयान वाट महोदय ने इसी ओर स संकेत करते हुए कहा है कि मानव-अनुभव की ईमानदारी को संप्रेषित करना उपन्यास-कार का प्रथम कर्तव्य है, अत: पूर्वस्थापित कोई भी रूढ़ि या तरीका उसकी सफलता के लिए खतरा है।[3] अत: इस नये मार्ग के अन्वेषण ने राग दरबारी' को कुछ अत्यधिक ख्याति दिलायी।

यह उल्लेखनीय है कि केवल नये शिल्प एवं टेक्नीक से कोई भी साहित्यिक कृति श्रेष्ठ व महान नहीं हो जाती। उसकी श्रेष्ठता विषय-वस्तु में अन्तर्निहित स्रष्टा की दृष्टि और उसकी श्रेष्ठता पर ही निर्भर है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (डा० धर्मवीर भारती) की भूमिका में अज्ञेय ने साहित्यकार की अदम्य निष्ठामयी आशा को उसकी मूलनिधि बताया है। साहित्य केवल सत्य नहीं, 'शिवम्' और 'सुन्दरम्' भी उसके अन्य दो पहलू हैं। और 'राग दरबारी' को पढ़ जाने के बाद, उसकी सारी मनोरंजकता के बावजूद, यह अहसास बार बार उभरता है कि उसमें मानवता के प्रति संवेदना के पक्षों को प्राय: उपेक्षित रखा गया है। माना कि अन आज के गांव का आदमी काइयां हो गया है, धूर्त और बेईमान हो गया है। चारों ओर स्वार्थ का प्रबल प्रभंजन चल रहा है। तथापि मानवता का दीपक कहीं न कहीं तो टिमटिमाता नज़र आता ही है। वस्तुत: श्रीलाल शुक्ल जिलाधीश थे। 'राग दरबारी' में चित्रित कटु सत्य का उन्हें एक अधिकारी होने के नाते यथार्थ अनुभव भी है, परन्तु ग्राम्य-जीवन की इन विसंगतियों को देखने वाली उनकी दृष्टि एक अधिकारी की है, कलाकार की नहीं। अत: दर्द के स्थान पर प्रत्येक बार व्यंग्य और मखौल ही उभरकर आया है।

---

१. 'राग दरबारी' : पृ० १५। २. वही : पृ० ११।

३. "Since the novelist's primary task is to convey the impression of fidelity of human experience, attention to my pre- established formal conventions can only endanger his success."

( I ~~an~~ Watt)

: The Rise of the Novel : Ian Watt (1957) P:13

गंगाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित उपन्यास ` ज़हर चाँद का ` भी ग्राम्य परिवेश के स्कूल-कालेज के मा माहौल को उभारने वाला उपन्यास है, किन्तु वहाँ लेखक ने वस्तु को मानवीय स्पर्श देने का प्रयास किया है। ` अलग अलग वैतरणी `, ` जल टूटता हुआ ` तथा ` नदी फिर बह चली ` जैसे उपन्यासों में ग्रामीण-जीवन की विद्रूपताओं के साथ साथ मास्टर शशिकान्त, जग्गन मिसिर, पटनहिया भाभी : सतीश, अखिलेशजी, कुंजू, बदमी : परबतिया, नन्हे, मंगललाल जैसे आलोक-बिन्दु भी गहरी मानवीय संवेदना के साथ यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित द्वारा लिखित ` मुरदा घर ` में लेखक ने बम्बई की झोंपड़पट्टी के जघन्य व घृणित ज जीवन को लिया है परन्तु वहां भी हमें मानवता की झलक मिल जाती है। वस्तुत: ` राग दरबारी ` में जीवन का, यथार्थ का, एक ही पक्ष मिलता है जो भौंडा और कुरूप है। उसके दूसरे पक्ष को नितान्त उपेक्षित रहने दिया गया है। यथार्थ समग्रता में होता है, खण्ड दृष्टि में नहीं। अत: राग दरबारी ` की गणना विशुद्ध यथार्थवादी उपन्यासों में नहीं की जा सकती। लंगड के पात्र में उच्च मानवता का कुछ अहसास होता है, परन्तु उसका भी उपयोग लेखक ने उपहासास्पद दृष्टिकोण से किया है। लेखक का व्यंग्य दर्द से नि:सृत न होकर कई बार उपहासात्मक बन गया है जो लेखक के विशेष प्रकार के दृष्टिक्षेप को प्रमाणित करता है और जो वहां के जीवन के साथ सहानुभूति का परिचायक नहीं प्रतीत होता। कलाकार की निस्संगता के विषय में टी० एस० इलियट के इस मत से सहमत हुआ जा सकता है कि ` भोगने वाले प्राणी और रचना करने वाले कलाकार में सदा एक अलगाव बना रहता है। जितना ही बड़ा वह अलगाव है, उतना ही बड़ा कलाकार होगा। `[१] किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या ` राग दरबारी ` में शुक्लजी उस प्रकार की निस्संगता का बर्ताव कर पाये हैं ? निश्चय ही ` राग दरबारी ` में लेखक का दृष्टिकोण मखौल उड़ाने की अ ओर अधिक रहा है। अत: पूर्वाग्रह से नितान्त रहित नहीं है। इसके बावजूद भी अपनी व्यंग्यात्मकता और कथा-शिल्प के कारण ` राग दरबारी ` का स्थान विगत दशक के महत्वपूर्ण उपन्यासों में अवश्य रहेगा।

---

१. "There is always a seperation between the man who suffers and the artist who creats and the greater the saperation the greater the artist."

## आधा गाँव ( १९६६ )

गाँवों के जीवन से मानसिक रूप से पूर्णतया जुड़े हुए नागरिकों के लिए डा० राही मासूम रज़ा का उपन्यास आधा गाँव अपने ही अतीत की जुगाली जैसा प्रतीत होगा। लेखक ने ग्रामीण जीवन के नाना आयामों को तथा शिया मुसलमानों की ज़िन्दगी के स्पन्दनों को इस प्रकार सम्प्रेषित किया है कि उसमें समय के प्रवाह के साथ बदलती और बदलती ज़िंदगी को, उसके दर्द को, हम बड़ी गहराई से महसूस करते हैं। यह 'महसूस' कर पाना ही बड़ा कठिन है। रज़ा यह कर सके हैं क्योंकि यह ज़िंदगी उनकी बहुत अपनी, देखी-परखी और महसूस की हुई है। इतना ही नहीं बल्कि स्वयं तथा अपने परिवार के पात्रों को इसमें उन्होंने ऐसे फेंट दिया है कि वास्तविक और काल्पनिक पात्रों को अलगाना अत्यन्त कठिन हो गया है। स्वयं डा० रज़ा के शब्दों में " ये पात्र ऐसे हैं कि इस वातावरण में अजनबी नहीं मालूम होंगे, और शायद आप भी अनुभव करें कि फुन्ननमियां, अब्बू मियां, फ़ंगटिया बो, मौलवी बेदार, कोमिला, बबरमुआ, बलराम चमार, हकीम अली कबीर, गया अहीर, और अनवारूल हसन राकी और दूसरे तमाम लोग भी गंगौली के रहने वाले हैं, लेकिन मैंने इन काल्पनिक पात्रों में कुछ असल पात्रों को भी फेंट दिया है। ये असली पात्र मेरे घरवाले हैं जिनसे मैंने यथार्थ की पृष्ठभूमि बनायी है।"[१]

उपन्यास की कोई बंधी-बंधायी कहानी न होकर उसमें अनेक कहानियां हैं जो गंगौली में बीते हुए जीवन को सशक्तता से रूपायित करती हैं। राही के अनुसार " यह गंगौली में गुजरने वाले समय की कहानी है। कई बूढ़े मर गये, कई जवान बूढ़े हो गये, कई बच्चे जवान हो गये और कई बच्चे पैदा हो गये। यह उम्रों के इस हेर-फेर में फंसे हुए सपनों और हौसलों की कहानी है। यह कहानी है उन खंडहरों की, जहां कभी मकान थे और यह कहानी है उन मकानों की जो खंडहरों पर बनाये गये हैं।"[२]

उपन्यास के कई पृष्ठ मुहर्रम, उसके लिए की जाने वाली तैयारियां, उसकी अलग-अलग बैठकें और उनमें पढ़े जाने वाले नौहों ने रोके हैं। यह मुहर्रम परम्परावादी जीवन-पद्धति के प्रतीक रूप में आया है। समय के फेर के साथ इसकी चकाचौंध

---

१. आधा गाँव : पृ० १५ । २. वही : पृ० ११-१२ ।

खतम होती गयी । उसका निष्प्राण और निस्तेज होना ऐसे मुस्लिम जीवन का निष्प्राण और निस्तेज होना है जो कभी जिया जाता रहा है ।

आधा गाँव की कहानी एक साथ अनेक स्तरों पर चलती है । ' गंगौली नाम का यह गांव शीया और सुन्नियों में, सैयदों और जुलाहों में, उत्तर पट्टी और दक्खिन पट्टी में और यदि आसपास के पुरवों को भी लें तो हिन्दुओं और मुसलमानों में, छूतों और अछूतों में और एक निश्चित सीमा तक जमींदारों और असामियों में बंटा हुआ है । पूरी कहानी इन्हीं में तनी-कसी है ।'[१] अत: गंगौली की यह कथा-व्यथा समूचे देश की कथा-व्यथा है । किसी भी लिहाज़ से यह पूरा नहीं, आधा है और इस उपन्यास में उसके इस अधूरेपन की तड़पन को चित्रित करने में लेखक सफल हुआ है है ।

उपन्यास के आरम्भ में ही विभाजन की काली छाया बने का मंडराते जाने का संकेत लेखक ने दिया है और ज्यों ज्यों उपन्यास आगे बढ़ता जाता है, यह काली काली छाया फैलती जाती है और अन्ततोगत्वा वह गंगौली को-- समूचे देश को -- निगल लेती है । यह विभाजन देश के नक्शे पर खींची गयी भारत-पाकिस्तान की विभाजन रेखा ही नहीं, बल्कि वह रेखा है जो पहले कागज़ पर, फिर ज़मीन पर और अन्तत: पूरे देश के जीवन पर खिंच गयी और जिसने हिन्दुओं को अधिक हिन्दू और मुसलमानों को अधिक मुसलमान बना दिया । जिसने मां-बाप से बेटे, बहनों से भाई, पत्नियों से पति ही नहीं अलग किये, बल्कि इन्सान को ज़मीन से तोड़ दिया, इन्सान को इन्सान बने से तोड़ दिया । यह तन्नू, सद्दन, मिग्गे, दिलशाद जैसे मु गुब्बारों की कथा है जिनकी डोर वतन के हाथों से खिसक गयी हैऔर जो एक दोगली ज़िन्दगी जीने के लिए विवश हैं ।

' आधा गाँव ' में लेखक ने इस मर्म-बिन्दु को तलाशा है । अत: तीन-चौथाई उपन्यास के बाद पृ० ३०३ पर लेखक ने एक छोटी-सी भूमिका दी है । यह भूमिका ही वह मर्मे मर्म-बिन्दु है, वह दर्द है, जिससे ' आधा गांव ' का सृजन हुआ है । वहां लेखक ने तीखे दर्द के साथ लिखा है -- ' मैं, सय्यद मासूम रज़ा आब्दी, वल्दसय्यद बशीर आब्दी, बहुत परेशान हूं । अक्सर सोचता हूं कि मैं कहां का रहनेवाला

---

१. आलोचना : जुलाई-सितम्बर, १९६७ : पृ० ९४३ ।

हूं।.... मगर यह कहना ही पड़ता है कि मैं गाज़ीपुर का हूं। गंगौली से मेरा अटूट सम्बन्ध है। वह एक गांव ही नहीं है, वह मेरा घर भी है। घर यह शव्द दुनिया की हर बोली और भाषा में है और हर बोली और भाषा में यह उसका सबसे खूबसूरत शव्द है। इसलिए मैं इस बात को फिर दोहराता हूं। मैं गंगौली का हूं क्योंकि वह केवल एक गांव ही नहीं है। क्योंकि वह मेरा घर भी है।.... कोई तलवार इतनी तेज़ नहीं होती कि वह इस क्योंकि को काट दे। और जब तक यह क्योंकि ज़िन्दा है मैं सय्यद मासूम रज़ा आव्दी गाज़ीपुर का ही रहूंगा, चाहे मेरे दादा कहीं के रहे हों।"[१] विभाजन और साम्प्रदायिक ज़हर की इस समस्या को 'झूठा सच', 'प्रश्न और मरीचिका', 'तमस', 'एक पंखड़ी की तेज़ धार' जैसे उपन्यासों में उठाया गया है: परन्तु यहां लेखक स्वयं भुक्तभोगी होने के नाते उनका दर्द इन सबमें गहरा है।

इसमें लेखक ने टूटते और महराते हुए सामन्ती मूल्यों को पकड़ने की कोशिश की है। जब तक ज़मींदारी रही, तब तक वह परम्परागत जीवन-प्रणाली रहती है। उसके टूटते ही ज़मींदारी के सब चोंचले भी क्रमश: टूटते गये। सईदा का पढ़ना और नौकरी करना अब अब्बू मियां को अखरता नहीं है। बेटी के पैसे वे नहीं लेते पर सईदा की मां बेटी द्वारा खरीदे गये मातमी लिबासको पहन कर अब मजलिस में अब जाने लगती है। फुस्सू मियां ने जूते की दूकान खोल दी। शुरू में उन्हें इस व्यवसाय में शर्म आती थी और कभी कभी भल्ला भी जाते थे क्योंकि जिनकी पुश्तें उन्हें और उनके बुज़ुर्गों को सलाम करने में गुज़री थी वे जुलाहे और राकी, चमार और अहीर अब उनके ग्राहक थे, लेकिन फिर रफ़्ता-रफ़्ता खरीद के दाम पर कसमें खा-खाकर माल बेचने का फ़न उन्हें आ गया। हम्मादमियां और जवादमियां के बाद अब फुस्सू मियां की भी कुछ हैसियत बन गयी कि लोग आकर उनके दरवाजे पर बैठने लगे। दागी हड्डी वाले जवादमियां के बेटे कम्मो उर्फ डाक्टर कमालुद्दीन की मातहत में अब दो सय्यदजादे नौकरी करते थे जिनको बात-बेबात पर डांट खानी पड़ती थी। रहमत जुलाहा अब अब्बूमियां से बराबरी का व्यवहार कर सकता है। जवादमियां अब हुसैन अली मियां जैसे पक्की हड्डी वाले सय्यद घराने में रिश्ता भेजने का साहस कर सकते हैं। फुन्ननमियां सच ही कहते हैं -- ई सय्यदी बघारे का ज़माना है?

---

१. 'आधा गांव' : पृ० ३०३-३०५।

अरे मियां, जै दिन इज्जत-आबरू से गुजर गये गनीमत जानो ।"[1]

परम्परावादी समाज का स्थान लेनेवाले सामाजिक तत्वों को भी लेखक ने पहचाना है। सुखरमवा चमार का बेटा परसुरमवा अब एम० एल० ए० हो गया है है। उसके पास पक्का मकान और जीप है। अब सय्यदजादे भी उसके दरवाजे पर बैठने-लेम लगे हैं। रमजान जुलाहा भी चौक के सामने पाखाना बनवाता है। पहले सय्यदजादे निम्न जाति की स्त्रियों--बहुओं,बेटियों -- पर हाथ साफ करना अपना अधिकार समझते थे अब रहमत जुलाहा का लड़का बरकत जो अलीगढ़ में पढ़ता है सय्यदजादी कामिला ( हुसैन अली मियां की लड़की ) से इश्क फरमाता है क्योंकि हुसैन अली मियां के ही शब्दों में "जौन खूंटे पर अकड़ते रहे तौन खूंटवे कट गया ।"[2] सारी जोर-जबरदस्ती जमींदारी की ही तो थी । फुन्नन मियां ने हुसैन अली मियां को बिलकुल ठीक कहा है --" जब जमींदरिया रही तब तू कौनो जोर-जबरदस्ती न किये रह्यो । का ई हमें ना मालुम कि तूं रहमतवा की बहन से फंसे रह्यो ? तूं जमींदार न रहे होत्यो, त का ऊ तारी बहिनिया न चोद देता ? कल तोरा वखत रहा, आज बर-कतवा का वखत है ।"[3]

इसमें वर्णित जीवन-चर्या, पात्र और घटनाएं सभी यह प्रमाणित करते हैं कि लेखक इस जीवन में कितना रसा-बसा है। पिकनिकी नजरिये से देहात को देखने वाला आदमी मिगदाद और सैफुनिया, फुन्नन मियां और कुलसूम, हकीम साहब तथा ठाकुर जयपालसिंह जैसे पात्रों की सृष्टि नहीं कर सकता । जमींदारी की अकड़ में उत्तरपट्टी और दक्खिनपट्टी में रात-दिन चलने वाली फौजदारियां : एक-दूसरे को जेल भिजवाने के चक्कर में थाना कासिमाबाद के दारोगा को दी जाने वाली रिश्वतें : फुन्नन मियां जैसे लोगों का जीवट जिसने शरीफउद्दीन जैसे "धाकड़" थाने-दार की मूंछ का, जिसकी मूंछ ब्रिटिश सरकार की मूंछ थी, उखाड़ दिया था, जिसने शिवधनीसिंह ( जिनके बड़े चर्चे थे ) को थूक चटवाया था, जो सलीमपुर के जमींदार अशरफुल्ला खां के खास नमकीन लौंडे को भरी महफिल में तमाचा जड़ देते हैं क्योंकि

---

१. "आधा गाँव" : पृ० ३५१ ।

२. वही : पृ० ३५२ ।

३. वही : पृ० ३५२ ।

वह गुलाबी जान द्वारा गायी जाने वाली ग़ालिब की ग़ज़ल की बेअदबी कर रहा था, (फुन्नन मियां वैसे अलिफ-बे नहीं जानते थे, मगर अनिस और वहीद के मर्सियों ही की तरह उन्हें मोमिन, ग़ालिब और दाग़ के अनगिनत शेर याद थे), जो अपने ही पड़ोसी की बीवी को निकाल लाये और फिर रोज़ उसी पड़ोसी के घर जाकर हुक्का पिये : बड़े ताजिये की इज़्ज़त के लिए कोमिला जैसे निर्दोष को फांसी दिलवाना : मुहर्रम की मजलिसों में उत्तरपट्टी के मश्शूभाई का गश्त खाना और वैसा नहीं कर सकने पर दक्खिन पट्टी के लोगों का शर्मिन्दा होना तथा मुहर्रम से पहले कई दिनों से इसी गश्त के लिए अभ्यास करना : हिन्दू औरतों का भी बच्चों को ताज़िये के नीचे से निकालना : मन्नो द्वारा हिन्दी में नौहा पढ़ने पर सय्यदजादियों का रंग उड़ जाना : सातवीं की मुहर्रम को सय्यदजादे कहकहे नहीं लगाया करते, ये और ऐसी अनेक मान्यताएं तथा इसमें वर्णित भाषा, गालियां आदि सब उस जीवन का एक बिम्ब उपस्थित करने में सक्षम हैं। 'राग दरबारी' की भांति इसके व्यंग्य और फूहड़-फूहड़ प्रसंग ऊपर से आरोपित नहीं, परन्तु जीवन की तादात्म्यता को उभारनेवाले हैं। फुन्ननमियां धोखे से मारे जाते हैं और कम्मो से ज़िन्दगीभर चिढ़ने वाले तथा उसे गालियां देने वाले हकीम साहब की बेहोशगी में कम्मो ही इलाज करता है। हकीम साहब इसी दर्द के साथ आंखे बन्द कर लेते हैं। उपन्यास का यह अन्त कलात्मक एवं प्रभावशाली है।

फुन्ननमियां और छिकुरिया की मृत्यु का प्रसंग भी बड़ा मार्मिक है। वे दोनों बारिखपुर के ठाकुरों के यहां से जश्न मनाकर आ रहे थे कि अचानक उन पर लाठियों का मेह बरसने लगा।" "इतबड़ी नामर्दी की बात है" उन्होंने गिरते-गिरते कहा, "टोक के मारा त मरद जानें" लाठी उनके कन्धे पर पड़ी, "हट जनखे" इन्होंने बड़ी हिकारत से कहा। फिर रात जैसे उनकी आंखों में घुस गयी और फिर रात उनके खून में मिल गयी और फिर वे खुद रात का एक हिस्सा बन गये। मर गये फुन्ननमियां। छिकुरिया भी मर गया। दोनों के खून मिल गये, मगर कोई तीसरा रंग पैदा नहीं हुआ। क्योंकि दोनों के खून का रंग एक ही था।"[१]

डॉ० कुंवरपालसिंह के शब्दों में "'आधा गाँव' की संरचना हिन्दी के दूसरे उपन्यासों से नितान्त भिन्न अलग है। पात्रों के तथा नाते-रिश्तों के लम्बे

---

१. आधा गाँव : पृ० ३५६-३६० ।

सिलसिले कभी-कभी पाठक को उलझा लेते हैं पर राही की अभिव्यक्ति और जीवन के अनुभव इतने प्रामाणिक और ताजा है कि यह जटिलता उबाऊ नहीं होने पाती। बहुत अधिक पात्र होने के बावजूद राही ने फुन्ननमियां और ठाकुर कुंवरपालसिंह जैसे महत्वपूर्ण पात्रों की सृष्टि की है जो हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में याद किये जाते रहेंगे।"[1]

## जल टूटता हुआ ( १९६९ )

कवि, आलोचक एवं कथाकार डा० रामदरश मिश्र हिन्दी के उन विरल साहित्यकारों में हैं जिन्होंने स्वतन्त्र भारत में आए ग्रामीण-जीवन के बदलाव को अनुभव एवं संवेदना के स्तर पर देखा-परखा है। मानवीय संवेदना और जनवादी चेतना के कारण वे प्रेमचन्द और रेणु की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए नजर आते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर ग्रामीण-चेतना को, उसकी मूल्यहीनता और विघटन को, श्रीलाल शुक्ल ने जहां 'राग दरबारी' में मानवीय सम्भावनाओं की कहीं उपेक्षा तो कहीं मखौल उड़ाने के उद्देश्य से व्यंग्यात्मक शैली में चित्रित किया है; वहाँ मिश्रजी में एक गहरा दर्द एवं तिक्तता के दर्शन होते हैं। 'मानवीय जिजीविषा की अभिव्यक्ति और प्राकृतिक सहजता से मानवीय विवेक के द्वन्द्व का आस्थावान चित्रण'[2] मिश्रजी की कथा-कृतियों में निरन्तर अनुगुंजित होता गया है।

उनकी प्रथम कथा-कृति 'पानी के प्राचीर' ( १९६१ ) में स्वाधीनता-पूर्व की ग्रामीण-चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। 'जल टूटता हुआ' और 'पानी के प्राचीर' को एक साथ देख जाने पर लगता है कि दोनों में एक प्रकार की अन्विति होते हुए भी संवेदना के स्तर पर इन दोनों कृतियों के बीच लेखक ने एक फासला तय किया है। इस सम्बन्ध में स्वयं मिश्रजी ने 'जल टूटता हुआ' की भूमिका में लिखा है -- स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय गांव के सम्बन्धों तथा मूल्यों के तनाव विघटन और उसके जीवन-संघर्षों एवं व्यथा की कथा है -- जल टूटता हुआ। इसका भू-भाग वही कछार-अंचल है जो 'पानी के प्राचीर' का है; किन्तु समय की चेतना

---

१. 'हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना' : डा० कुंवरपालसिंह : पृ० १७६-१७७।

२. डा० ~~[illegible]~~ हेमचन्द्र जैन : आधार -- सातवाँ दशक मूल्यांकन विशेषांक : फरवरी-मई, १९७१ : पृ० ४२।

दोनों को अलगाती है। इनके पात्र, इनकी कथाएं, इनकी चेतना और संरचना सभी अपने-अपने हैं। समय के फलक पर इन्हें एक भू-भाग का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है : किन्तु अपनी अपनी सत्ता में सर्वथा स्वतन्त्र।[1] एक प्रकार से 'जल टूटता हुआ' का मुख्य 'थीम' ही स्वातन्त्र्योत्तर मोहभंग की अवस्था है।

उपन्यास का प्रारम्भ स्वाधीनता-दिवस समारोह से होता है। मास्टर सुग्गन के अतीत प्रत्यावलोकन के द्वारा लेखक ने आजादी के बाद का जो चित्र अंकित किया है वह निश्चय ही निराशाजनक है। रेणु ने 'मैला आंचल' में बावनदास के द्वारा जो संकेतित किया है उसी को मूर्त होते हुए हम यहां देखते हैं। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य ज़मींदार महीपसिंह की अध्यक्षता में यह समारोह हो रहा है। आज़ादी की लड़ाई के दिनों में जो सदा अंग्रेजी शासन साथ देते रहे वही आज़ादी मिलने के बाद गांव की राजनीति पर हावी हो उठे। महीपसिंह राजनीतिक अवसरवादियों के प्रतिनिधि हैं जो स्वतन्त्रता की विरासत पर कुण्डली मारकर बैठ गये हैं।

'जल टूटता हुआ' की कथा का गठन विस्तृत फलक पर हुआ है। ५७४ पृष्ठ के इस बृहदकाय उपन्यास में कछार-अंचल के तिवारीपुर गांव के माध्यम से सतीश, अमलेशजी, ज़मींदार महीपसिंह, रामकुमार, दीनदयाल, कुंजू, बदमी, मास्टर सुग्गन, दलसिंगार मगुआ, धनपाल, बनवारी, महावीर, मास्टर उमाकान्त पाठक और शारदा आदि पात्रों द्वारा लेखक ने देश के सामाजिक-राजनीतिक माहौल को दर्द एवं संवेदना के साथ उभारा है।

संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ अमलेशजी पुराने ज़मींदार थे परन्तु उनकी सरलता, संस्कारिता एवं संवेदनशीलता का लाभ उठाकर दीनदयाल जैसे लोगों ने उनकी जमीन हड़प ली और उनके पुत्र सतीश को अधूरी शिक्षा छोड़कर महीपसिंह के यहां मुंशीगिरी करनी पड़ी। परन्तु ग्राम-पंचायत के चुनाव के समय सतीश महीपसिंह की नौकरी को ठोकर मारकर चुनाव के मैदान में कूद पड़ता है और विरोधियों के लाख हाथ-पैर मारने पर भी सरपंच के पद पर चुन लिया जाता है। सतीश एक प्रकार से लेखक का 'स्पोक्समैन' है जो उसकी भावुकता एवं आदर्शवादिता को वहन करता है।

---

१. 'जल टूटता हुआ' : भूमिका।

बनवारी का लड़का रामकुमार पढ़ने में तेज था परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलनों के फेर में तथा मिस सेन की प्रेम-मरीचिका में तीसरे दरजे का परशुरामीय अभिशाप लेकर गांव के एक निकट के स्कूल में मास्टरी करता है और साथ ही साथ अपने घर-परिवार तथा कृषि को भी संभालता है। शुरू में वह काम्यूनिस्ट था परन्तु अपने भाई रामविचार की बीमारी में जब पार्टी का डाक्टर गांव में आने के लिए मना करता है और रामविचार की मृत्यु हो जाती है तब से उसका वह मोह भी टूट जाता है। वह भी गांव की स्वार्थान्ध दलीय राजनीति में अपने स्वार्थ के अनुसार कभी सतीश तो कभी महीपसिंह का साथ देता है। सतीश की न्यायप्रियता एवं आदर्शवाद, गांव के स्थापित हितों के साथ उसका टकराव, उससे उत्पन्न निराशा आदि के साथ गांव के मेले-ठेले, उत्सव, बाढ़, बीमारी, अस्पताल के अभाव में असामायिक निधन की घटनाएं, झगड़े-फसाद, खून-खराबा, कचहरी-अदालत, झूठी गवाहियां, चुनावके हथकण्डे, चोरी, पारस्परिक ईर्ष्या के कारण एक-दूसरे के खेतों को काटना-कटवाना, प्रतिस्पर्द्धी को गुण्डों द्वारा पिटवाना, चकबन्दी और उससे व्याप्त भ्रष्टाचार, स्त्री-पुरुष के अनै अनैतिक सम्बन्ध और इन सबके बीच पनपती प्रेम-कहानियां -- यों समूचा उपन्यास ग्रामीण जीवन के बहुआयामी तानों-बानों से बुना गया है।

गांवों की सामाजिक चेतना अब काफी बदल रही है और सम्बन्धों में विघटन और तनाव की प्रक्रिया शुरू हो गयी है, जिसे 'जल टूटता हुआ' के अनेक पात्रों में लक्षित किया जा सकता है। सुग्गन मास्टर महीपसिंह को इसलिए प्रसन्न रखना चाहता है कि कहीं उसका तबादला तराई में न हो जाय -- क्योंकि वह अकेला है और भाई से अलग रह रहा है। यदि उसका तबादला हो जाय तो उसकी पत्नी जमुना और जवान पुत्री गीता अकेले कैसे रहेंगे और उसकी जमीन का क्या होगा यह समस्या हमेशा उनके सामने मुंहबाये रहती है, अत: जानते हुए कि सतीश का पक्ष न्यायी है, उन्हें सतीश के खिलाफ महीपसिंह के कहने पर चुनाव लड़ना पड़ता है। धनपाल और बनवारी में भी बंटवारा हो जाता है क्योंकि धनपाल बराबर चाहता रहा है कि बनवारी मूर्ख व आवारा बना रहे ताकि उसकी जमीन का फायदा उसे मिलता रहे। बनवारी की पत्नी जेठ के इस रूख को भलीभांति समझ गयी है, अत: उसके विरोध करने पर धनपाल बनवारी को चढ़ाकर उसे जब-तब पिटवाता रहता है। उसकी आंख तब खुलती है जब उसके पुत्र कुमार को निमोनिया हो जाता है। इसी प्रकार कुंजू और बिरजू के सम्बन्धों में भी तनाव की स्थिति को लेखक ने दिखाया है।

राजकुमार की अपने पिता बनवारी से नहीं पटती क्योंकि वे घर के काम में ध्यान नहीं देते और आयेदिन मेहमानी करते और सुरती फांकते रहते हैं। इस प्रकार भाई-भाई, पिता-पुत्र और पति-पत्नी के सम्बन्धों में तनाव और अविश्वास बढ़ रहा है और संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। सामाजिक परम्पराएं भी कुछ शिथिल होती जा रही हैं। बड़े भाई से पहले अब छोटे भाई का विवाह होने लगा है। रामविचार का विवाह रामकुमार और बिरजू का विवाह कुंजू से पहले हो जाता है।

निम्न और पिछड़ी हुई जातियों में अधिक परिवर्तन नहीं आया, तथापि युग के बदलते तेवरों का प्रभाव उन पर भी देखा जा सकता है। जसपतिया चमार अब महीपसिंह से यह कहने का साहस जुटा पाया है कि --"बबुआ, गाली मत दीजिए। रमपतिया नौकरी पर गया है तो क्या हो गया ? नौकरी नहीं करेंगे तो हम लोग खायेंगे क्या ?"[1] स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् छोटी जातियों में जो साहस और आत्मविश्वास बढ़ा है उसकी प्रतिध्वनि हरिजन-कन्या लवंगी के कथन में मिलती है। उसका भाई हंसिया पारवती नामक एक उच्च जाति की लड़की से आशनाई करते हुए पकड़ा जाता है तब उच्च जाति के लोग उसकी खूब पिटाई करते हैं। उस समय लवंगी का यह कथन उक्त दृष्टि-परिवर्तन को उद्घाटित करता है। "क्या हुआ अगर मेरे भाई ने एक बामन की लड़की से भला-बुरा किया ?..... चमार का खून खून नहीं है ? बामन का खून ही खून है ? हमारी कोई इज्जत नहीं होती क्या, बामनों की ही इज्जत होती है ?... जब चमरौटी की तमाम लड़कियों पर ये बाबा लोग हाथ साफ करते हैं तो कोई परलय नहीं आती और कोई चमार बामन की लड़की को छू ले तो परलय आ जाती है।.... हरिजनों के नेता, मैं तुमसे फरियाद करती हूं कि वोट लेने वाले नेताओं से जाकर कहो कि हमारा खून खून नहीं है, हमारी इज्जत इज्जत नहीं है तो हमारा वोट ही वोट क्यों है ?"[2]

कुंजू-बदमी तथा उमाकान्त पाठक और शारदा की प्रेम-कथाएं भी ग्राम्य-जीवन के नये आयामों को छूती है। कुंजू ब्राह्मण-ठाकुर है, जबकि बदमी चमारिन, परन्तु दोनों का प्रेम-सम्बन्ध अनैतिक सम्बन्ध न रहकर शुद्ध प्रेम की सीमा को छूता हुआ दृष्टिगत होता है। कुंजू भरी सभा में सबके बीच साहसपूर्वक यह स्वीकार करता है कि बदमी के पेट में जो बालक है वह उसका है। उसी प्रकार उमाकान्त पाठक भी दीनदयाल को पत्र द्वारा सूचित करता है कि वह शारदा को प्रेम करता है और उससे विवाह करना चाहता है। दीनदयाल पहले तो इस सम्बन्ध को स्वीकार

१. 'जल टूटता हुआ' : पृ. ७३। २. वही : पृ. ३५३-३५४।

नहीं करता परन्तु बाद में वत्सलता के कारण उसे झुकना पड़ता है। उमाकान्त पाठक और शारदा की प्रेम-कथा 'मैला आंचल' के डाक्टर और कमली की प्रेम-कथा का स्मरण दिलाने वाली है। कुंजू-बदमी की प्रेम-कथा ग्रामीण जीवन की मिट्टी से पनपती हुई अत्यन्त सहज एवं प्राकृतिक परिवेश में विकसित हुई है। कुंजू के गीतों में एक विरही हृदय की टीस मिलती है।

'जल टूटता हुआ' में मिश्रजी ने बांध को तोड़कर फैलते बाढ़ के पानी का सार्थक प्रतीक लिया है। बाढ़ का पानी बांध को जगह जगह तोड़कर फैल रहा है। ठीक उसी तरह स्वाधीनता के बाद भी शोषण और गरीबी को बांधने का कोई प्रामाणिक प्रयत्न नहीं हुआ। कुछ कार्य तात्कालिक लाभ-हानि की दृष्टि से हुआ। परन्तु महीपसिंह, दीनदयाल और दौलतसिंह जैसे नेता-लोग हमारे सपनों को निगल गये हैं और आज़ादी के बाद भी आम आदमी की स्थिति सुग्गन, जग्गू, कुंजू, बदमी, महावीर आदि से बेहतर नहीं है। इसलिए उपन्यासकार का यह अहसास बहुत प्रामाणिक लगता है --" गांव टूट रहे हैं- रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसी का नहीं, सब अकेले हैं, एक दूसरे के तमाशाई, वही क्यों सबका ठेका लिए फिरे ... गांव टूट रहा है मगर नहीं एक नया गांव बन भी रहा है, वह है किसानों-मजदूरों का। जगपतिया का खेत नहीं कटवा सके महीपसिंह। वह अकेला नहीं था उसके साथ अनेक हाथ उठ गए थे मरने-मारने को तैयार।"[१]

सतीश के उक्त प्रलाप से ध्वनित होता है कि विघटन के भीतर से भी एक नये समाज का निर्माण हो रहा है। समाज की सम्भावनाओं के प्रति लेखक अब भी आस्थावान प्रतीत होता है। उपन्यास के अन्त में सतीश के भाई चन्द्रकान्त को आई० ए० एस० में उत्तीर्ण होते हुए दिखाकर मिश्रजी ने अपने आदर्शवादी संस्कारों का ही परिचय दिया है।

अत: 'जल टूटता हुआ' एक महत्वपूर्ण उपन्यास है, क्योंकि "जीवन के प्रश्नों से साक्षात्कार की क्षमता इसमें अवश्य है। इसके रंग चित्र एवं खण्डचित्र मनोरम तथा प्रभावशाली हैं, ये चित्र उपन्यास को जीवन्तता प्रदान करते हैं।"[२]

---

१. 'जल टूटता हुआ' : पृ० ३८६।

२. डा० हेतु भारद्वाज : तटस्थ ( त्रैमासिक ), फरवरी-१९७१ : पृ० १०१।

## सूखता हुआ तालाब ( १९७२ )

`सूखता हुआ तालाब` डा० रामदरश मिश्र का ग्राम्य-जीवन के टूटते मूल्यों एवं यथार्थ को व्यंग्यार्थ से सम्प्रेषित करने वाला प्रतीकात्मक लघु-उपन्यास है। `पानी के प्राचीर` तथा `जल टूटता हुआ` में ग्रामीण जीवन के नाना आयामों को जहां विस्तृत फलक पर चित्रित किया गया है, वहां प्रस्तुत उपन्यास में ग्रामीण-जीवन की बढ़ती जटिलता, वहां फैलती जाती काली विषैली राजनीति की छाया और उसके सहारे पनपती यौन-लीलाएं आदि का बड़ा ही मार्मिक चित्रण लेखक ने किया है। यहां भी लेखक का आदर्शवाद `जल टूटता हुआ` के सतीश की भांति देवप्रकाश के चरित्र में अभिव्यक्त हुआ है, परन्तु उपन्यास के अन्त में मोहभंग की स्थिति के चित्रण द्वारा लेखक ने इंगित किया है कि अब ईमानदार मनुष्यों का गुज़ारा गांवों में भी नहीं है।

अपने स्वतन्त्र मिज़ाज एवं व्यक्तित्व के कारण देवप्रकाश आसिस्टण्ट स्टेशन मास्टर जैसी `दूधों फलने वाली` नौकरी को लात मारकर गांव में चले आते हैं। परन्तु यहां भी उनकी `दो-टूक` निर्भीकता उन्हें जमने नहीं देती, क्योंकि गांव भी अब शिवलाल, शामदेव, मास्टर धर्मेन्द्र, बनारसी, कामरेड मोतीलाल जैसे बदमाश और हिजड़ेनुमा नेताओं का अड्डा बन गया है। शंकर और जैराम जैसे नैतिक मूल्यों में विश्वास करने वाले कुछ लोग हैं, परन्तु उनकी आवाज़ नक्कारखाने में तूती के समान हैं। जैराम के अग्रज का स्वर्गवास होने पर दिये गये ब्रह्मभोज में भाभी की जिद एवं गांववालों के दबाव के कारण जैराम को अपने मित्र देवप्रकाश के परिवार का बहिष्कार करना पड़ता है, जो नैतिक मूल्यों पर गांव की पार्टीबन्दी की विजय है। `क्या है मानवता ? क्या है मूल्य ? कुछ नहीं बचा है। बचा है केवल सुख-सुविधा-परक समझौता ? तब तो कहीं कुछ भी विश्वसनीय नहीं, कहीं कुछ भी अटूट नहीं, कहीं कुछ भी मूल्य नहीं, आत्मीय नहीं।`[१] देवप्रकाश की यह आत्म-प्रतारणा ही उपन्यास का `थीम` है।

उपन्यास के प्रारम्भ की दो कविताओं में लेखक ने झण्डाबरदारी, गुटबन्दी, एवं नेताओं के हिजड़ेपन को व्यंजित किया है जिसकी व्याख्या उपन्यास में

---

१. `सूखता हुआ तालाब` : डा० रामदरश मिश्र : पृ० १०४।

भलीभांति हुआ हुई है। दोस्ती-दुश्मनी तथा स्त्री-पुरुष के अनैतिक यौन-सम्बन्ध गांवों में पहले भी मिलते थे, परन्तु पहले इनमें सरलता एवं मर्यादा रहा करती थी। अब राजनीतिक गुटबन्दी के कारण इनमें भी जटिलता आ गयी है। देवप्रकाश का भाई अवतार पड़ोसी गांव की पासिन के साथ पकड़ा जाता है तो शिवलाल, शामदेव तथा मास्टर धर्मेन्द्र देवप्रकाश के घर को पट्टीदारों से बहिष्कृत कर देते हैं और देवप्रकाश की पुत्री के विवाह पर के उपलक्ष्य में रखे प्रीति-भोज में जैराम, बनारसी जैसे दो-एक लोगों को छोड़कर कोई सम्मिलित नहीं होता क्योंकि देवप्रकाश अपनी नैतिकता के कारण उस तथाकथित नेतामण्डली के शत्रु हो जाते हैं। विधुर शिवलाल हमेशा अपनी हलवाइनों से फंसा रहता है। शिवलाल, दयाल तथा मास्टर धर्मेन्द्र तीनों चैनइया चमारिन से शारीरिक सम्बन्ध रखते हैं। अपने अनुज की विधवा पत्नी (भयउ) से सम्बन्ध रखने वाले मोतीलाल कामरेड के पुत्र के मूर-पूजन में यही गांव इन नेताओं की रहबरी में 'दहोंचूरा' 'मकोरने' पहुंच जाता है। शिवलाल की ल लड़की कलावती को मास्टर धर्मेन्द्र से गर्भ रहता है तब शिवलाल के सुपुत्र (?) रामलाल यह दोष विरोधी दल के देवप्रकाश के पुत्र रवीन्द्र पर डालना चाहते हैं और जैराम के द्वारा कलई खुल जाने पर बड़ी बेशरमी से कहते हैं --'आ गांव वाले सालों की क्यों छाती फटती है? धरमेन्दर भैया ने कुछ किया है तो मेरी ही बहन के साथ किया है न।'[१]

यह यौन-अनैतिकता राजनीति की छाया में इस कदर पलती है कि देवप्रकाश जैसे सात्त्विक-संस्कारी व्यक्ति के मन में भी यह विचार कौंध जाता है कि रवीन्द्र यदि धर्मेन्द्र की बहिन लीला को अहिर रामदौना के साथ भगाने में सफल हो जाय तो कोई बुरी बात नहीं है। लीला का प्रेम-व्यापार अहिर रामदौना से चलता है, परन्तु उसकी अनुपस्थिति में वह रवीन्द्र से भी अपनी शारीरिक क्षुधा संतृप्त कर लेती है। रवीन्द्र लीला-रामदौना को भागने के लिए प्रेरित करके भी नहीं भागने देता, उसके मूल में भी गांव की लड़की की यज्जत का प्रश्न न होकर उसका लीला के प्रति का शारीरिक आकर्षण ही है। रवीन्द्र के इस अन्तर्द्वन्द्व को लेखक ने कलात्मक सूझ से संवारा है।

---

१. 'सूखता हुआ तालाब' : पृ० ६६।

अनेक विरोधी परिमाणों को आमने-सामने उपस्थित करके लेखक ने मार्मिक व्यंग्य की सृष्टि की है। लीला तथा कलावती जैसी ब्राह्मिन कन्याओं के आचरण के विपरीत चैनइया जैसी चमार कन्या का गर्भ न गिराकर समाज को चुनौती देने का साहस करना : कामरेड मोतीलाल की समझौता परस्त सिद्धान्तवादिता : एम० ए० में पढ़नेवाले बाबू पारसनाथ का ओझा-सोखा आदि में विश्वास व्यक्त करना : चमारिनों से शारीरिक सम्बन्ध रखते हुए मास्टर धर्मेन्द्र का छूआछूत सम्बन्धी दम्भ : विष्णु-पुराण की कथा के उपरान्त फिल्मी-गीतों को भजन के रूप में गाना : आटा-चक्की की आवाज़ के साथ ही जलेस्सर के यहां से ओझा की डुगडुगी की आवाज़ का आना : भूत-प्रेत जैसी अन्ध-मान्यताओं का भी राजनीति में उपयोग करना : आदि इसके उदाहरण हैं।

उपन्यास के अन्त में देवप्रकाश महसूस करते हैं कि उनका यह शिकारपुर गांव, गांव के पुश्तैनी रामी-तालाब का ही प्रतीक है। पहले इसका जल कितना स्वच्छ, कितना निर्मल रहता था। गांव भर के सारे धार्मिक उत्सव वहां संपन्न होते थे। पर अब उसमें गंदगी ही गंदगी है। मल-मूत्र के विसर्जन से लेकर मछली मारने तक के सारे काम उसमें होते हैं। गांव के इस सार्वजनिक तालाब को शिवलाल तथा शामदेव जैसे कुछ लोग हथियाने का प्रयास भी कर रहे हैं और गांव का सम्पूर्ण जीवन भी क्या इन लोगों ने हथिया नहीं लिया है? इस प्रकार 'सूखता हुआ तालाब' ग्राम्य-जीवन के जल के सूखने की दर्दभरी कहानी है।

## धरती धन न अपना ( १९७२ )

'धरती धन न अपना' आधुनिक प्रगतिशील लेखक जगदीशचन्द्र की प्रथम रचना है। 'रचना' शब्द का प्रयोग यहां साभिप्राय हुआ है। कृति अपनी समस्त संश्लिष्टता एवं समग्रता लिए हुए यथार्थ 'फर्स्ट हैन्ड' जीवनानुभवों[1] की यात्रा व यन्त्रणा से गुजरती हुई रचनाधर्मिता का निर्वाह पूरी ईमानदारी से करती है। अतः प्रथम होते हुए भी इसे हिन्दी के सफल व सार्थक उपन्यासों में

---

१. देखिए : 'धरती धन न अपना : जगदीशचन्द्र : लेखकीय वक्तव्य : पृ० ७-८।

परिगणित किया जा सकता है। एक साहित्यिक के अन्तस् की पीड़ा यहां प्रेरणा बन कर यथार्थवादी कला के मूल्यों को उकेरती हुई दिखायी पड़ती है। इसमें लेखक ने पंजाब के एक छोटे से गांव 'घोड़ेवाहा' को केन्द्र में रखकर सदियों से प्रताड़ित, साधनहीन, पराश्रित, भाग्यवादी, अपढ़ 'चमार' जाति के जीवन का ऐसा अन्तरंग चित्रण किया है कि वह भारत के करोड़ों हरिजनों के जीवन का सच्चा दस्तावेज़ बन पड़ा है। वैसे 'जल टूटता हुआ', 'अलग अलग वैतरणी', 'सूखता हुआ तालाब' आदि उपन्यासों में उनके दीन-हीन-परावलम्बित ( अतः निरन्तर अपमानित ) जीवन के कतिपय पहलुओं को उजागर किया गया है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में लेखक की दृष्टि सम्पूर्णतया केवल उन्हीं को केन्द्रस्थ रखने में नियोजित हुई है। उनको और केवल उनकी समस्याओं को लेकर लिखा गया हिन्दी का यह प्रथम उपन्यास है। उपन्यास के बृहद् फलक पर उनकी आशा-आकांक्षाएं, उनके आचार-व्यवहार, उनकी आस्थाएं-परम्पराएं, सतत गरीबी से निष्पन्न स्वार्थान्धता एवं आपसी फूट इस प्रकार प्रतिबिम्बित हुए हैं कि ग्रामीण जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रह जाता। काली, प्रतापी, ताई निहाली, बन्तो, ज्ञानो, प्रीतो, बाबा फत्तू, जीतू, मंगू, छज्जू शाह, घड़म चौधरी, चौधरी हरनामसिंह, नन्दसिंह, डा० बिशनदास, टहलसिंह, लालू पहलवान आदि पात्र पंजाब का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

उपन्यास का प्रारम्भ गांव में काली के पुनरागमन से होता है। बचपन में ही उसके मां-बाप काल-कवलित हो गये थे। प्रतापी चाची ने ही उसे पाला-पोसा था। कुछ वर्ष पूर्व वह गांव से भाग गया था। अब तीन-चार सौ जैसी रकम लेकर वह लौटा है। यह रकम उनको बहुत बड़ी लगती है, यही उनकी गरीबी का प्रमाण है। प्रतापी चाची उसमें से एक दस का नोट लेकर छज्जू शाह के यहां शक्कर लेने जाती है, तब छज्जू शाह विस्फारित नेत्रों से प्रतापी चाची को देखता है। इस दस के नोट की वजह से ही छज्जू शाह काली को 'बाबू कालीदास' कहता है।[१]

इस उपन्यास में लेखक ने बखूबी हरिजनों पर होने वाले अत्याचार, अपमान और उनकी आर्थिक विपन्नता की संताप-त्रयी को गहराई से उभारा है।

---

१. 'धरती धन न अपना' : पृ० २७।

उपन्यास के तीसरे परिच्छेद में ही चौधरी हरनामसिंह के द्वारा सन्तू और जीतू को बुरी तरह से पीटने की घटना दी गयी है। स्वयं लेखक के शब्दों में ' चमादड़ी में ऐसी घटना कोई नयी बात नहीं थी। ऐसा अक्सर होता रहता था। जबकिसी चौधरी की फसल चोरी कट जाती या बरबाद हो जाती या चमार चौधरी के काम पर न जाता या फिर किसी चौधरी के मन्दिर अन्दर जमीन की मल्कियत का अहसास जोर पकड़ लेता तो वह अपनी साख बनाने और चौधर मनवाने के लिए इस मुहल्ले में चला आता।'[1] यहाँ किसी भी व्यक्ति के पीटने के कारणों में उसका चमार होना ही पर्याप्त माना जाता है। इस जाति को सदियों से इतना दबाया गया है कि उसकी प्राण शक्ति ही खत्म हो गयी है और जानवर से बेहतर वह अपने को कभी नहीं समझती। इतने लोगों के बीच हरनामसिंह बिना कारण लोगों को जुतियाता है और काई उफ तक नहीं कहता।

वर्षा के दिनों में ' चो ' ( नाले ) में आये बाढ़ के पानी के कारण जब बाबा फत्तू का घर गिरने की स्थिति में आ जाता है, तब चौधरी लोग मौन रहते हैं। पर वृक्ष के गिरने से पानी का बहाव जब गाँव की ओर होने लगता है तब मारे डर के लालू पहलवान के सुझाव पर ' चो ' के सामने वाला बाँध तोड़ दिया जाता है। मकाई के खेतों को नुकशान होता है पर गाँव बच जाता है। बाँध को जहाँ तोड़ा गया था वहाँ एक छेद ( शगाफ ) हो गया था। उसे पूरने के लिए चमादड़ी के सभी चमारों को लगाया जाता है। प्रारम्भ में मजदूरी की आशा में उन्हें प्रसन्नता होती है, परन्तु दो-तीन दिन तक जब उसकी कोई बात नहीं निकलती तब वे परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं पर चौधरियों को कहने का साहस उन्हें नहीं होता। आखिर काली, जीतू जैसे कुछ युवक जब काम बन्द करते हैं : तब दूसरों में चेतना का संचार होता है। पूरे गाँव का काम था। अत: उन्हें काम की मजदूरी मिलनी चाहिए। बिना मजदूरी के वे कई-कई दिनों तक बेगार कैसे कर सकते हैं ? इस पर गाँव के चौधरी उन्हें ' बायकाट ' करते हैं। गाँव की नाकाबन्दी होती है। कुदरती हाजत तक के लिए उन्हें खेतों में नहीं जाने दिया जाता। शनै: शनै: सबके हौसले पस्त होते जाते हैं। काली बहुत चिन्तित है। डा० बिशनदास और कामरेड टहलसिंह से उसे उम्मीद थी, पर वे लोग केवल बातों के बड़े पकाते हैं। वे उनके विद्रोह में मार्क्सवादी

---

१. ' धरती धन न अपना ' : पृ० ३५।

इन्कलाब देखकर प्रसन्न होते हैं। क्रान्ति और समाजवाद की बात करते हैं। पर उसकी यातनाओं से उन्हें कोई सरोकार नहीं। चौधरियों का बड़ा नुकशान हो रहा था अत: आंशिक रूप से चमारों की बात मान ली जाती है और दोनों में समझौता हो जाता है। तब उन तथाकथित कामरेडों को बड़ा दु:ख होता है।

सदियों से इस जाति की चेतना हर ली गयी है। अत: उनके मान-अपमान का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता । बात बात में उन्हें 'साला कुत्ता चमार' कहा जाता है। 'चमादड़ी' या चमरौटी' शब्द ही अपमान की तिक्तता को व्यंजित करने वाला है। मंगू हरनामसिंह का मुंहलगा है। एक बार वह हरनामसिंह और छज्जू शाह की बातचीत में कुछ कहने जाता है। काली वहां उपस्थित था। अत: जान-बुझकर हरनामसिंह मंगू को डांटते हुए कहता है --' कुत्ते की औलाद, चुप बैठ। कुत्ता चमार अपने आप को बड़ा पंच समझता है।'[१] काली की उपस्थिति में ही छज्जू शाह के मुंह से भी एक बार निकल जाता है --' अगर सरदार और चौधरी लोग खर्च नहीं नहीं करेंगे तो क्या कुम्हार और चमार करेंगे।'[२] अपमान की तिक्तता तो उस समय बढ़ जाती है, जब सन्तासिंह जो काली का मकान बनाने आया है, कहता है -- ' मुझे नन्दसिंह ने बताया था कि काली और निक्कू में झगड़ा हो गया है। उस समय मुझे समझ में नहीं आया कि तेरा नाम ही काली है। सच्ची बात पूछो तो गांव में कुत्तों और चमारों की पहचान रखना मुश्किल है। आते जाते रहते हैं ना।'[३] कितना करारा व्यंग्य था काली पर। शहर से काली का मनीआर्डर आता है। मुंशी अस्सी के स्थान पर सवा उन्नासी रूपये देने लगता है। काली उससे तर्क करता है तब मुंशी पूरे पैसा-पैसे देता है। काली के कहने पर कि आप वैसे बारह आना रख लें लें लेकिन कायदा यही है। तब मुंशी उसका अपमान करते हुए कहता है --' अगर मुझे हाथ फैलाना होगा तो किसी महाजन या चौधरी के आगे फैलाऊँगा, चमार के आगे नहीं फैलाऊँगा।'[४] गाली-गलौच ही नहीं चमारों की बहन-बेटियों की इज्जत से खेलना चौधरियों के लिए बायें हाथ का खेल है। चौधरी हरनामसिंह का भतीजा हरदेव मंगू की सहायता से प्रीतो की अविवाहित जवान लड़की लच्छो की लाज

---

१. ' धरती धन न अपना ' : पृ० ५७। २. वही : पृ० ५८। ३. वही ? पृ० १०६। ४. वही : पृ० १६७।

दिन-दहाड़े लूटता है । हरनामसिंह भी अपनी जवानी में प्रीतो से जुड़ा हुआ था । समस्या का एक पहलू यह भी है कि इसमें मंगू जैसे लोग चौधरियों की कुल्हाड़ी के हाथ ~~बैन~~ बने हुए हैं । मंगू इतना बेगैरत हो गया है कि उसके सामने उसकी बहन ज्ञानो की छातियों की तुलना कच्चे खरबूजे से की जाती है और वह चुप रहता है ।[१]

निम्न जाति के लोगों के ईसाई हो जाने की समस्या को भी लेखक ने बड़े संजीदा ढंग से प्रस्तुत किया है । नन्दसिंह पहले सिक्ख और बाद में ईसाई हो जाता है । उसे 'चमार' शब्द से नफरत है पर लोग फिर भी उसे 'चमार' ही कहते हैं । सन्तासिंह के अनुसार " सिक्ख बन जाने का यह मतलब तो नहीं कि वह चमार नहीं रहा । धर्म बदलने से जात तो नहीं बदल जाती ।"[२] इसी सन्दर्भ में लेखक की एक वक्रोक्ति ( Dramatic Irony ) उल्लेखनीय है । नन्दसिंह काली से अपने ईसाई होने के लाभ गिनाते हुए कहता है कि सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि ~~कि~~ अब हम चमार नहीं रहे हैं । इतने में ही चौधरी मुंशी कहीं से आ ~~धमक~~ धमकता है और नन्दसिंह को गाली देते हुए कहता है --" चमारा, तूने क्या भंग पी ~~रखी~~ रखी है ?"[३]

और इन सबके मूल में है उनकी आर्थिक विपन्नता । लेखक अर्थशास्त्र के छात्र रह चुके हैं,[४] अत: इस सामाजिक दुरावस्था के पीछे छिपे आर्थिक कारणों का विश्लेषण उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से किया है । लेखकीय वक्तव्य के अनुसार दूध, चाय और लस्सी जैसी चीजों के लिए लोग तरस जाते हैं । काली इस लिए संपन्न माना जाता है कि वह शक्कर पीता है और गेहूं की रोटी खाता है । छज्जू शाह भी उसकी इज्जत करता है । हरनामसिंह भी दूसरे चमारों सा व्यवहार उससे नहीं कर पाता । मिट्टी के गारे से पकी ईंटों ~~का~~ बनाया गया मकान ~~उसक~~ उनके सपनों की चरम सीमा है । काली भी इसीलिए पक्का मकान बनवाने का विचार करता है । ज्यादा पैसे हैं नहीं, अत: आगे का कुछ हिस्सा बनवा देता है । प्रतापी चाची इसी मेहनत में दम तोड़ देती है । यहां लेखक ने उनके अन्ध-विश्वासों का भी कुछ संकेत दिया है । चाची की मृत्यु के बाद रहे-सहे पैसे चोरी हो जाते हैं और काली भी अन्य लोगों की तरह खेत-मजदूर हो जाता है । छज्जू शाह ठीक ही कहता है कि 'चमार की खुशहाली

---

१. 'धरती धन न अपना' : पृ० १५७ । २. वहीं : पृ० १६३ । ३. वहीं० पृ० २३१ ।
४. वही : लेखकीय वक्तव्य : पृ० ८ ।

उसकी जवानी की तरह चार दिन की ही रहती है।'[1] जीतू अब उसे बाबू नहीं कहता। ज्ञानी यदि न रोकती तो काली वापिस शहर चला जाता।

ज्ञानी और काली की प्रेम कहानी प्रस्तुत उपन्यास की एक त्रासदी है। ज्ञानी को काली से गर्भ रहता है। परन्तु सामाजिक मर्यादाओं के कारण वह उससे शादी नहीं कर सकता। वह इसके लिए ईसाई तक होने के लिए तैयार होता है, पर ज्ञानी बालिग नहीं है अत: पादरी लाचार हो जाता है। अन्ततोगत्वा ज्ञानी की मां जस्सो उसे विष देकर मार डालती है। काली पुन: भाग जाता है और विक्षिप्त अवस्था में इधर-उधर भटकता रहता है। और अन्त में उसके द्वारा आत्महत्या करने के कुछ संकेत लेखक ने दिये हैं। एक दिन मंगू मकान पर अधिकार करने के उद्देश्य से अपनी भैंस काली के घर में बांध आता है। इस प्रकार उपन्यास का यह अन्त उसके शीर्षक को सार्थकता प्रदान करता है।

प्रस्तुत उपन्यास का महत्व इसमें नहीं कि वह हरिजनों से सम्बन्धित यथातथ्य घटनाओं को संकलित करता है। वस्तुत: यथार्थवादी कलाकार अपने अनुभवों के मृतिका-पिण्ड से एक सार्थक कलाकृति का निर्माण करता है। यहां डॉ० शिवकुमार मिश्र का यह मत ध्यातव्य है कि 'सच्ची यथार्थ दृष्टि वस्तुनिष्ठ होती है परन्तु वह मात्र संकलनात्मक नहीं होती।... यथार्थवादी लेखक सत्य को ब्यौरेवार प्रस्तुत करता है परन्तु उसे मात्र 'फोटोग्राफिक' नहीं बना देता।... (वह) सारी घटनाओं तथा पात्रों को, सामाजिक जीवन से प्राप्त अपने यथार्थ अनुभवों की खराद पर चढ़ाता है, उन्हें तराशता है, नुकीला बनाता है और अपनी कृति के अन्तर्गत उनकी कलात्मक नियोजना करता है।'[2] प्रस्तुत उपन्यास का महत्व उसकी इस कला-नियोजना में है।

उपन्यास में प्राप्त चीज-वस्तुओं के भाव के अन्तसाक्ष्य के आधार पर कदाचित इसमें निरूपित काल आज से बीस-पचीस वर्ष पूर्व का है। परन्तु उसकी समस्या आज भी उतनी ही चिन्तनीय है क्योंकि आजादी के इतने वर्षों के बाद भी हरिजनों पर के अत्याचार बन्द नहीं हुए हैं। रणमलपुरा, भांभमेर (गुजरात) तथा बेलछी काण्ड (बिहार) इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

---

१. 'धरती धन न अपना' : पृ० २२६। २. 'यथार्थवाद' : पृ० १६-१७।

असावधानी के कारण उपन्यास में कुछ दोष रह गये हैं। प्रसन्नी को पृ० ९७ पर बन्तू और पृ० ९६ पर अन्तू की पत्नी बताया गया है। पृ० २०३ पर पालो को बूटासिंह का तथा पृ० २५२ पर बैलासिंह का लड़का बताया गया है। पृ० ११६ पर प्रीतो का लड़का अमरू छज्जू शाह से चार आने का गुड़, चार आने का गेहूं का आटा और एक आने का नमक मांगता है। उस सस्ताई के जमाने में एक आने का नहीं बल्कि एक पैसे का नमक भी ज्यादा हुआ करता था। तथापि अनुभव की सच्चाई और अभिव्यक्ति की कलात्मक निरपेक्ष दृष्टि उपन्यास को एक वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। लेखक की अन्य औपन्यासिक रचना 'कभी न छोड़ें खेत' ( १९७६ ) ग्रामीण कृषि-जीवन के विभिन्न आयामों को रूपायित करता है। स्वतन्त्रता के बाद परिवर्तित ग्राम्य परिवेश में किसानों के पूंजीवादी और सामन्तकालीन मिले जुले संस्कारों के कारण उत्पन्न गुटबन्दी और खूनखराबे को चित्रित करते हुए लेखक ने पुलिस विभाग की उद्दण्डता और अमानवीयता, न्यायालयों की रिश्वतखोरी, अफसरशाही, लाल फीताशाही, अस्पतालों के चिकित्सकों में व्याप्त भ्रष्टाचार आदि का पर्दाफाश किया है। इस प्रकार इन दो कृतियों के परिशीलन से यह प्रतीति हुए बिना नहीं रहती कि जगदीशचन्द्र की प्रवृत्ति प्रेमचन्द, रेणु और नागार्जुन की परम्परा को विकसित करने की ओर रही है।

## सफेद मेमने ( १९७१ )

'सफेद मेमने' आधुनिक युवापीढ़ी के यथार्थवादी कथाकार मणि मधुकर की एक विषाद-रस में डूबी बाड़मेर के सूखे रेगिस्तान में स्थित नेगिया, बराऊ, गाबासी जैसी ढाणियों में बसे ऐसे मानवों की कथा है जो किसी न किसी रूप में भगोड़े हैं। पूरी कहानी एक द्रष्टा के रूप में कही गयी है। स्वयं लेखक के शब्दों में 'यह उन भगोड़ों की कथा है और इसे एक भगोड़े ने, जो रेत और दूसरी दुनिया के बीच सूखी विचाट हवा में टंगा हुआ है, उदासी में लिखा है।'[१] कामू ने कहीं लिखा है

---

१. 'सफेद मेमने' : मणिमधुकर : पृ० १४६ ।

है कि आज के परिवेश में व्याप्त विषाद की पर्तों को आत्मसात् कर उसे मूर्तिमन्त अभिव्यक्ति प्रदान करना ही कदाचित् आज के लेखक की नियति है और इस उपन्यास में लेखक ने जस्सू डाकिया, रामौतार ( पोस्ट मास्टर ), रक्खे ( रामौतार का नौकर), जानवरों का डाक्टर भानमल, बन्नो ( रामौतार की पत्नी ), सूरजा ( एक जाटनी ) जैसे पात्रों द्वारा परिवेश में व्याप्त विषाद की छाया को पकड़ने का प्रयास किया है। उपन्यास को पढ़ते समय गुजराती के युवा कवि-उपन्यासकार स्व० रावजी पटेल का उपन्यास 'अश्रुघर' बारबार स्मृति-पट पर उभर आता है।

इसके सभी पात्र विषाद की धुन्ध में विचरण कर रहे हैं। रामौतार एक महत्वाकांक्षी पर अब हतप्रभ और मायूसी में डूबा हुआ व्यक्ति है। अधेड़ अवस्था में बन्नो से उसकी शादी होती है, जो एक ठण्डी औरत है और जिसे वह कभी संतुष्ट नहीं कर सका। प्रदेश के छूटे हुए बदमाश सन्दो के संपर्क में आकर उसे सर्वप्रथम पुरुष की ताकत का अनुभव होता है। इसका वर्णन लेखक ने बेलाग होकर किया है : "कुछ पलों बाद वह खाट पर थी और सन्दो उसके रोएं-रेशे बिखेर रहा था। उसकी आंखें मुंद गयीं। शरीर हल्का-हल्का हो गया। सन्दो की भारी भारी सांसे उसे मसल रही थीं। होठों को होठों में पीसा जा रहा था और बाहों पर बढ़ता हुआ दबाव उस गहरी एकरसता को टूक-टूक कर रहा था, जो उसके भीतर पत्थर की भांति कठोर पड़ गयी थी। बन्नो को लगा, पहली बार उसे पुरुष ने छुआ है, उसके कौमार्य की जड़ता को अपने अनन्त बल से भंग किया है। वह शान्त हो गई और सन्दो की भुजाओं में अधर उठ गयी।"[१] सन्दो से उसे गर्भ भी रहता है और अन्तमें वह उसके साथ पाकिस्तान भाग जाती है। कुछ ही दिनों में सन्दो उससे ऊबकर एक दूसरी औरत को रखैल के रूप में घरमें बिठा देता है।

सन्दो रक्खे की नाजायज सन्तान है। यह रहस्य रक्खे जस्सू को ही बताता है। गाबासी के ठाकुर की एक गोली से रक्खे को प्रेम हो जाता है और उसी का परिणाम है सन्दो। और इधर सन्दो से बन्नो को सन्तान होने जा रही थी। एक आदमी जिसने कभी शादी नहीं की उसकी तीसरी पीढ़ी जन्म लेने जा रही थी। लेखक के ही शब्दों में " जिस व्यक्ति ने कभी व्याह नहीं किया, न गृहस्थी जमायी, न घर का कोई दन्द-फन्द किया। जिन्दगी भर अकेला और अपने में

---

१. 'सफ़ेद मेमने' : पृ० १२२-१२३।

सिमटा-सिमटा रहा, लेकिन फिर भी उसका वंश खत्म नहीं हुआ। वह एक अनजाने बहाव में शामिल है और पूरी गति से बढ़ रहा है।[1]

बन्नो का चरित्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। शैशवकाल में उसके मां-बाप और भाई सांप्रदायिकता व विभाजन के शिकार हुए थे अत: वह मामा-मामी के पास पली। मामी ने ही उसे सैंतालीस के दंगों की कहानी सुनाई थी, जिन्होंने बन्नो के मां-बाप और भाई को सदा के लिए मिटा दिया था। किस तरह बाप की आंखें फोड़ दी गई, पेट में खंजर भोंककर मांस निकाला गया, किस तरह भाई की चमड़ी को उबलते हुए आलू की तरह छीला गया, बोटी बोटी काट कर फेंक दी गई, कैसे आठ-नौ जनों ने मां की नंगी देह को रौंदा, स्तनों की घुंडिया उतार ली और कूल्हों के बीचमें मिरची का चूरा भर दिया।[2] सुनते ही बन्नो बेहोश-सी हो गयी थी और तब से अपने शरीर के लिए उसके अन्दर का सुखभरा आकर्षण बुझने लगा था और जब रामौतार से शादी हुई तब वह एक नि:संग बेजुबान हरकत भर रह गयी थी। उसकी मामी भी एक ठण्डी औरत थी और उसके संग में बन्नो भी ठण्डी हो गई थी -- मछली मरी हुई की प्रिया की तरह। वहां प्रिया का ठण्डापन पद्मावत के बलात्कार से दूर होता है तो यहां बन्नो का सन्दो द्वारा किये गये सम्भोग से।

जस्सू शहर से भाग आया था और कुछ पढ़-लिखकर आखिर नैंगिया को इस मनहूस जगह पर डाकिया बन गया था। पोस्ट मास्टर रामौतार के नौकर रक्खे के साथ प्राय: उसका हंसी-मजाक चलता रहता था। मजाक में जस्सू रक्खे को अपनी लुगाई कहता है। रक्खे जस्सू के लिए एक पितृभाव, जिस में मैत्री का अंश अधिक था, सदा महसूस करता था।

सन्दो जब बराऊ के ठाकुरों के लिए गांबासी की सूरजा जाटणी को उठा लाता है तब जस्सू और सूरजा का मिलन होता है। सन्दो सूरजा की खुमारी दूर करने के लिए अपने दोस्तों द्वारा उस पर जब-तब बलात्कार करवाता रहता है। यह कार्य उसके लिए इतना सहज हो जाता है कि जस्सू जब अचानक सन्दो की झोंपड़ी में पांव रखता है तब वह तुरन्त दरी पर लेट जाती है और लहंगा ऊपर उठाकर तथा मुंह फेरकर कहती है, 'चढ़ जाओ।'[3] पर जस्सू की सच्चरित्रता उसे प्रभावित

---

१. 'सफ़ेद मेमने' : पृ० ११३। २. वही : पृ० ८१। ३. वही : पृ० ५९।

करती है। वह जस्सू से बताती है कि सन्दो उसकी आखों में आंसू दोखना चाहता है पर वह भी सच्ची जाटणी है। वह एक साथ दस मरदों को झेल सकती है। ~~सिसकारी~~ सिसकारी तक नहीं निकलने देती। जस्सू-सूरजा में आत्मीयता बढ़ती है। सूरजा जस्सू से जसमा ओड़णी की कहानी कहती है। पर जस्सू सन्दो के फंदे से सूरजा को नहीं बचा सकता। अत: आत्महीनता के बोध से जस्सू पतन की गर्त में गिरता ही जाता है। सच ही व्यक्ति दाणों में जीता है। जो जस्सू सूरजा के कहने पर भी उससे सम्भोग नहीं करता। वह अन्त में जन्तरी नामक एक सामान्य खानाबदोश औरत पर बलात्कार का असफल प्रयत्न करता है।

जानवरों का डाक्टर भानमल भी एक भाोड़ा पात्र है। अपने एक मित्र की सहायता के लिए बैन्क में गबन करके वह भागा था। उसने घाट घाट का पानी पिया था। उसने अपनी पत्नी मीरां की हत्या भी की थी। वही डाक्टर भानमल भीमा को जी-जान से मेहनत कर बचा भी लेता है पर खोपड़ी में चोट आने से वह पागल हो जाता है। और वही डाक्टर जब देखता है कि नस उठ जाने से सात नम्बर की कोठरी वाली भैंस भांभर रही है तब उसके साथ मैथुन भी करता है। उसके पहिले वह जस्सू, बन्नो तथा रामौतार के आगे बड़ी दार्शनिक बातें करता रहा था। इस प्रकार डा० भानमल का व्यक्तित्व निराशा के अन्धकार में डूबे हुए दमित काम वाले व्यक्ति का है। रामौतार की दृष्टि में उसका चरित्र सन्दो से अलग नहीं -- एक ज़रा सुथरा है तो दूसरा घुन खाया हुआ।[१]

सूरजा जाटणी का व्यक्तित्व बड़ा पानीदार है। वह सन्दो के आगे कभी नहीं भुकती। सूरजा वाले प्रसंग से लेखक ने गाबासी के जाट और बराऊ के ठाकुरों ( राजपूत ) की पुश्तैनी दुश्मनावट, उसके तौर-तरीके तथा पुलिस की कारवाही पर भी मार्मिक व्यंग्य किया है। "गाबासी का कोई तगड़ा जवान भी हाथ पड़ने पर बराऊ की किसी राजपूतणी को पकड़ लाता था और बदला लेने के ~~लिए~~ लिए उसकी `दुरदसा` करके छोड़ता था। तब तमाम जाट गरब में एंठते हुए डोलते थे। कल्पनाओं के जोर पर बराऊ की सभी `चम्पाकलियों` से अपने जिस्मानी रिश्ते जोड़ते ~~थे~~ लगते थे। दोनों ढाणियों की बहादुरी औरतों के बूते पर जगमग

---

१. `सफ़ेद मेमने` : पृ० १३७।

थी । पुलिसवाले बिचौलिए बनकर छापा मारते थे, पर इस रूप में कि दुश्मनी उत्तरोत्तर बढ़े और खूनखराबा हो जिससे उनकी हैसियत बनी रहे । मालमत्ते में हिस्सेदारी चलती रहे । कभी इधर से, कभी उधर से । उन्हें क्या परहेज हो सकता है था ।'[1]

सूरजा को सन्दो ने पुलिस के हवाले कर दिया था । वहां से वह डाकुओं के किसी गिरोह में शामिल हो गयी । रामौतार नेता बनने के प्रयत्न में पहले पहिले जवाहर और फिर जय प्रकाश नारायण के गुण गाते हुए अन्त में क्रान्ति-दल के मेम्बर हो जाते हैं । जस्सू नैगिया से निकलकर दिल्ली, मुंगेर, गोरखपुर, बनारस आदि शहरों में भटकता हुआ नक्सलवादियों के ग्रुप में शामिल होकर पकड़ा जाता है और जेल काटता है । रणसी, जन्तरी और मिनिया ( उनका लड़का ) अपनी उसी खानाबदोश जिन्दगी जिए जाते हैं । रणसी तरह मिनिया ने भी 'गोगाजी' की भक्ति और 'गुन' साधने में बड़ा नाम कमा लिया है ।

'सफ़ेद मेमने' के सभी पात्र संत्रस्त, पीड़ित और मायूसगी में डूबे हुए हैं । लेखक ने उनको उनकी सभी अच्छाइयों-बुराइयों के बीच निस्संगता से छोड़ दिया है । उनके आचरण पर लेखक ने अपनी तरफ से नैतिकता-अनैतिकता का कोई थिगड़ा नहीं चिपकाया है । अत: इसे हम एक यथार्थवादी -- और कुछ हद तक प्रकृतवादी उपन्यास कह सकते हैं । इसमें डरे हुए, सहमे हुए और अपने अस्तित्व के लिए जूझते हुए मेमने ( असहाय मनुष्य ) हमें दीखते हैं । लेखक ने अन्तिम पृष्ठ पर बहुत संक्षेप में उसका संकेत दिया है --'अक्सर मुझे लगता है कि रेवड़ की तमाम भेड़ों को पीछे छोड़कर अचानक कुछ सफेद मेमने आगे निकल आये हैं । वे अपने मामूली दम-खम के बूते पर भाग रहे हैं, लड़खड़ाकर गिर रहे हैं, लहूलुहान हो रहे हैं, फिर उठकर हांफ रहे हैं और उसी तरह दौड़ रहे हैं । एक डर उनके भीतर है, एक डर उनके बाहर है । एक अनदेखे कसाई का अदृश्य छुरा उनका पीछा कर रहा है है । वे बचना चाहते हैं, इसलिए उस सांस-तोड़ भागाभागी के सिवा कोई चारा नहीं है ।'[2] इस प्रकार शीर्षक की प्रतीकात्मकता के निर्वाह में लेखक को सफलता मिली है ।

---

१. 'सफ़ेद मेमने' : पृ० ६१ । २. वही : पृ० १४६ ।

काँचघर ( १६७१ )

रामकुमार भ्रमर द्वारा लिखित `काँचघर` अपने नवीन विषयवस्तु व परिवेश के कारण एक उल्लेखनीय उपन्यास कहा जा सकता है। भवाई ( गुजरात ), नौटंकी ( उ०प० व म० प्र० ), माच ( म० प्र० ), तमाशा ( महाराष्ट्र ) आदि नाट्यरूप लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। प्रस्तुत उपन्यास तमाशा मण्डलियाँ -- संच और उनमें साँस लेने वाले मनुष्यों की क्रूर नियति से निष्पन्न कथा-व्यथा को एक दर्द के साथ उभारता है।

महाराष्ट्र के जनजीवन में `तमाशा` बहुत लोकप्रिय नृत्य-नाट्य है। महाराष्ट्र के छोटे-छोटे गाँवों से लेकर बम्बई, नागपुर और पूना जैसे बड़े नगरों में भी उसे देखा व सराहा जाता है। परन्तु इन तमाशा वालों के जीवन पर बहुत कम लिखा गया है। `मराठी में भी सम्भवत: दो उपन्यास और एक-दो कहानियाँ ही लिखी गई हैं। हिन्दी में तो उस पर कुछ है ही नहीं।`[1] `काँचघर` के लेखक ने ही एक कहानी लिखी थी -- संच, जो हिन्दी-पाठकों द्वारा बहुत पसन्द की गई थी और तभी उन्होंने निश्चय किया था कि कभी इस विषय पर उपन्यास लिखेंगे। सो `काँचघर` के रूप में उस `निश्चय` को अमली जामा पहनाया गया है।[2] इस प्रकार लेखक का संकल्प उस वर्ग-विशेष को कथा-साहित्य का विषय बनाने का रहा है, जिसे आज तक हिन्दी साहित्य में प्राय: स्पर्श नहीं किया गया है।

नौटंकी, तमाशा आदि में काम करने वाले लोग `खाने-कमाने` वाले लोग माने जाते हैं। प्रशासकीय प्रयत्नों से उन्हें `कलाकार` पद तो मिला है, परन्तु समाज में उन्हें आज भी हेय दृष्टि से देखा जाता है। एक भीड़ का मनोरंजन करना और कई बार कुछ धनिकों की रंगीनियों का साधन बनना उनकी क्रूर नियति के साथ जुड़ा हुआ है। गाँव-खेड़े के छोटे-मोटे स्थानीय नेताओं --- मुकुन्दराव और शंकरराव बेलापरकर -- से लेकर पुलिस कमिश्नर तक को उन्हें `खुश` करना पड़ता

---

१. `काँचघर` : रामकुमार भ्रमर : लेखकीय से : पृ० ४ ।

२. वही : पृ० ४ ।

है अन्यथा उन्हें `म्याद-खत्मी` का नोटिस दे दिया जाता है।[१] अत: समाज की दृष्टि में संच रण्डीखाना व भडुआखाना ही माना जाता है।[२] संच की औरत को भी उसी दुर्निगाह से देखा जाता है। माला के शब्दों में संच की औरत `नहाने का पानी` है और नहाने व पीने के पानी में हमेशा अन्तर किया जाता है।[३]

`कांचघर` की कावेरीबाई, माला और रत्ना का जीवन तमाशेवालियों के समूचे वैयक्तिक व सामाजिक संघर्ष को अपने-आप में बटोरे हुए है। स्टेज पर आकर मुस्कराहटें और खुशियां बेचने वाली इन नर्तकियों के भीतर कितने आंसू, कितनी पीड़ा और कितनी कुण्ठा होती है -- इसके दर्शन हमें इस उपन्यास में होते हैं। `कांचघर` में रहने वाले का अपना व्यक्तिगत कुछ भी नहीं होता -- शरीर भी नहीं : कपड़ों में रहते हुए भी उन्हें नग्न रूप में देखने की लोगों की आदत पड़ जाती है।

`कांचघर` की कथा चार परिच्छेदों में कही गयी है। प्रथम परिच्छेद की १२६ पृष्ठों की कथा पूर्व दीप्ति (Flash-back.) में चलती है। कावेरीबाई के संच की हंसिनी रत्ना मुकुन्दराव के घर से बालाजीराव नामक एक माली के साथ भागने की योजना बनाती है, पर ऐन वक्त पर मुकुन्दराव के जाग जाने से भाग नहीं सकती और उसके स्मृति-पटल पर पहले की घटनाएं एक-एक कर उभरती है। कावेरीबाई के संच की एक विशिष्ट ख्याति आसपास के गांव-खेड़ों तथा कस्बों-शहरों में थी। कावेरीबाई -- एक बिजली, एक तेजी, एक तरावट। माला और रत्ना उसकी लड़कियां थी तथा अण्णाजी उनका फर्जी पिता।[४] चिमनभाई, बिरज आदि संचरूपी

---

१. द्रष्टव्य : `कांचघर` : पृ० ७७।

२. `तमाशेवाली औरत का क्या विश्वास! वह साली पंचायत का दफ्तर होती है। मोची से लेकर पण्डित तक उसमें जा सकता है!.... वह सबकी और किसी की नहीं!` : `कांचघर` : पृ० १५।

३. द्रष्टव्य : `कांचघर` : पृ० ८४।

४. `कई बार आदमी बाप होकर भी बाप नहीं होता, सिर्फ एक रिवाज होता है और रिवाज की ही तरह उसे निबाहा जाता है। चूंकि हर नाम के साथ अक्सर पिता का नाम बताना या लिखना जरूरी होता है, इसलिए अण्णाजी पिता था।... पिता नहीं, सिर्फ पिता का तर्क!` : `कांचघर` : पृ० ३६।

शतरंज के अन्य प्यादे हैं। संच की प्रथम मोहरी वास्तविकता का परिचय रत्ना को कावेरीबाई और शंकरराव बेलापुरकर के सम्बन्धों से होता है। माला-- कावेरीबाई की बड़ी लड़की, संच की ज़िन्दगी को वेश्यावृति मानती है और जगन्नाथ नामक एक कामगार लड़के से इश्क़ लड़ाकर उसके साथ भागने की योजना बनाती है। माला और जगन्नाथ संडास में मिलते हैं। रत्ना चुपके-चुपके उन्हें देखती हैं। पर जगन्नाथ पकड़ा जाता है। चोरी के इल्ज़ाम में उसे एक साल की जेल हो जाती है पर माला चुप्पी साध जाती है। रत्ना उससे नफ़रत करने लगती है। अपने अरमानों का गला घोंट घोंटकर वह संच की ज़िन्दगी में अपने को ढालने लगती है। वह अपने मन को मना लेती है कि 'संच की औरत को तमाशे में थाप ढूंढना चाहिए।'[1] गृहस्थी उसके लिए नहीं बनी है। वह संच के लिए कमिश्नर के साथ भी सोती है। जगन्नाथ के छूटने पर वह कावेरीबाई के विरोध के बावजूद उसके साथ रहने लगती है। शहर में जाकर आपरेशन करा लेती है ताकि उसके बेटी-बेटे के रूप में कावेरीबाई -- अण्णाजी की परम्परा आगे न बढ़ सके। रत्ना के लिए माला हमेशा एक अनबूझ पहेली बनी रहती है। रत्ना भी संच की ज़िन्दगी से नफ़रत करती है। वह एक 'घरू' औरत बनना चाहती है। उसके अनुसार 'आर्ट सीधा होना चाहिए। नाच-गाकर लोगों को खुश करना व्यवसाय हो सकता है, पर गन्दे इशारों से धन लूटना आर्ट नहीं है।.... वह वेश्या-वृत्ति है।'[2]

अत: वह भी किसी जगन्नाथ को तलाशती रहती है। और मुकुन्दराव के रूप में उसे वह जगन्नाथ मिल जाता है। मुकुन्दराव पटेल है। आसपास के गांवों में उसकी प्रतिष्ठा है। वह सरपंच के पद के लिए चुनाव लड़ने वाला है। वह रत्ना पर मर-मिटता है। कावेरीबाई रत्ना को उसे चंगुल में फंसाने का आदेश देती है और रत्ना उसे ज़िन्दगीभर के लिए फंसाती है। माला और जगन्नाथ के प्रयत्नों से रत्ना का विवाह मुकुन्दराव से हो जाता है और 'घरू' औरत होने का उसका स्वप्न पूरा हो जाता है।

पर रत्ना के जीवन की खरी ट्रैजडी यहां से शुरू होती है। मुकुन्दराव सामाजिक क्रान्ति की धौंस जमाने के लिए रत्ना को स्वीकार तो करता है, पर उस पर कभी विश्वास नहीं करता। संदेह की एक काली छाया हमेशा रत्ना पर मंडराती

---

१. 'कांचघर' : पृ० ४५। २. वही : पृ० ७६।

रहती है। रण्डी, तमाशेवाली आदि कहकर वह हमेशा फब्तियाँ कसता है। दाम्पत्य की दीवारों को चुनने में विश्वास सीमेण्ट का काम करता है, उसके अभाव में यह दीवारें शीघ्र ही ढहने लगती हैं। द्वितीय परिच्छेद में इन दीवारों का ढहना बताया है कि किस प्रकार वह फेंटेवाला, चश्मेवाला, 'बरापाहुणा' (प्यारा मेहमान) भौं-भौं करने वाला अल्सेशियन कुत्ता बन जाता है। तृतीय परिच्छेद उपन्यास के प्रारम्भ वाले स्थल से शुरू होता है। इसमें रत्ना पुनः बालाजीराव के साथ भागने की योजना बनाती है, जिसका उपयोग वह एक बैसाखी के रूप में करना चाहती है। कावेरीबाई के संच तक पहुंचाने वाली बैसाखी। बालाजीराव पर रत्ना का सम्मोहन चल गया है। वह भागती भी है पर मुकुन्दराव द्वारा पकड़ ली जाती है। बालाजीराव पहले ही भाग जाता है। किसी को पता नहीं चलता कि वह बालाजीराव के साथ भाग रही थी। मुकुन्दराव व उसकी भाभी सखूबाई का व्यवहार और भी क्रूर व कटु हो जाता है। केवल मुकुन्दराव के बड़े भाई मारोतीराव का रत्ना के प्रति व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण है। उन्हीं के समझाने पर मुकुन्दराव भी थोड़े समय कुत्ते के मुखौटे का त्याग कर गाय का मुखौटा पहन लेता है। पर है वह मुखौटा ही। चौथे परिच्छेद में बालाजीराव, माला, जगन्नाथ, कावेरीबाई, अण्णाजी, आदि बेलापुरकर से मिलकर रत्ना को उस कैद से छुड़ाने की पक्की योजना बनाते हैं। सत्ताइस तारीख मुकर्रर की जाती है। मुकुन्दराव चुनाव जीत जाता है। उसी की खुशी में एक समारोह रखा गया है। सखूबाई घर पर नहीं है। मुकुन्दराव और मारोतीराव दोनों रात के दो-तीन बजे तक बाहर रहने वाले थे। मुकुन्दराव भी आश्वस्त था क्योंकि अब रत्ना के भागने से उसके चुनाव पर बुरा असर नहीं पड़ेगा। पर उसी दिन रत्ना को डाक्टर से ज्ञात होता है कि वह माँ बनने वाली है। रत्ना, कावेरीबाई के संच की हंसिनी रत्ना, घर औरत होकर मोहभंग हुई रत्ना, मुकुन्दराव को आपादमस्तक घृणा व नफ़रत से देखने वाली रत्ना तथा उसके भीतर कहीं छुपी हुई 'माँ' में संघर्ष होता है। और अन्त में माँ की जीत होती है। वह अपनी भावी सन्तान को कावेरीबाई या अण्णाजी की क्रमशः कठपुतली या नपुंसक परम्परा में नहीं डालना चाहती।

मुकुन्दराव के कटु अर्थ- एवं जुल्मी व्यवहार के बावजूद 'घर' औरत के सम्बन्ध में रत्ना की आस्था हिली नहीं थी पर जब उसने मुकुन्दराव और सखूबाई के अनैतिक घृणित व्यवहार को अपनी आंखों से देखा तब उसकी सारी आस्था

चरमराकर टूट गई थी । सखूबाई का एक होंठ फटा हुआ था, अत: मारोतीराव उसे कभी दिल से नहीं चाह सका । परिणामत: वह उसे शारीरिक दृष्टि से कभी पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सका । दूसरी ओर उसका गठा हुआ शरीर व कसी हुई जांघें मुकुन्दराव को आकर्षित करती है । अत: वह जब-तब अपना तनाव सखूबाई द्वारा दूर कर लिया करता है । और सखूबाई की सारी जिस्मी सुलगन भी मुकुन्दराव के प्यार के फव्वारे को पाकर बुझ जाती है । पर रत्ना इन सम्बन्धों से सुलगती रहती है । वह सोचती है --' तुम्हारी घर औरतों से तमाशे की औरतें कहीं अधिक भली है । ... कई गुना शरीफ़ !... उनकी जिन्दगी एक साफ़-सुथरे ढंग से बीतती है । सब कुछ कांच के गिलास-सा । जिस रंग का पानी होगा, वह उजागर । और तुम्हारे घर -- आबरूवाले घर, गन्दे पानी की मोरी जैसे, जिसके ऊपर सफेद चमकता हुआ पत्थर रखा रहता है और भीतर सड़ांध ।'[1]

संच की कावेरीबाई और माला हमें इज्ज़तदार समाज की सखूबाई से काफ़ी ऊँची लगने लगती है । इस प्रकार 'कांचघर' में लेखक ने एक तरफ कांचघर-- संच की औरतों की नारकीय जिन्दगी तो दूसरी तरफ समाज के खोखलेपन को बखूबी चित्रित किया है । प्रकारान्तर से यह भी ध्वनित होता है कि स्त्री चाहे संच की हो, चाहे गृहिणी उसका नैतिक शोषण हमेशा से होता आया है ।

## कड़ियाँ ( १९७० )

'कड़ियाँ' हिन्दी के नये हस्ताक्षरों में सिद्धहस्त कथाकार भीष्म साहनी का एक हृदय-स्पर्शी उपन्यास है । महेन्द्र और प्रमिला के दाम्पत्य की कड़ियां एक बार टूटी तो फिर कभी न जुड़ सकीं । इसमें टूटते परिवार की इकाइयों के मानसिक तनावों और उनके बीच से विकसित होने वाली आज के व्यक्ति की प्रेम और परिवार विषयक मान्यताओं का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण हुआ है । महेन्द्र बाहर से शरीफ़ बनने का खूब प्रयत्न करता है । पर भीतर से वह कायर है । आधुनिक जीवन की चमक-दमक से उसकी आंखें चौंधिया गयी हैं । पत्नी प्रमिला प्राचीन बुर्जुआ परम्पराओं में आस्था रखने वाली घर और बच्चों में खोयी रहने वाली एक गृहिणी है । सौन्दर्य उसमें है पर वह उसका प्रदर्शन नहीं कर सकती । सेक्स के प्रति उसका

---

1. 'कांचघर' : पृ० १६६ ।

दृष्टिकोण स्वस्थ ~~नहीं कहा जा सकता~~ या आधुनिक नहीं कहा जा सकता । उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा वातावरण ने उसमें सैक्स के प्रति एक विरक्ति-सी पैदा कर दी थी । उसे सुषमा की भाँति यह 'डायलाग' मारना नहीं आता कि 'तुम्हारे वक्त से जो घड़ियाँ टूट कर मेरी गोद में पड़ जाएं, मैं उन्हीं से संतुष्ट हूं ।'[1] सतवन्त-सी व्यवहार कुशलता भी उसमें नहीं है । पति से भी ज्यादा वह अपने बेटे पप्पू का खयाल रखती है और परिणामत: पति व बेटे दोनों से हाथ धो बैठती है । अन्य क्षेत्रों की भांति इस दाम्पत्य के क्षेत्र में भी अब स्पर्द्धा है । इस 'शो-मैन-शीप' के जमाने में आधुनिक पति के मन को जीतने के लिए स्त्री को पतिव्रता नहीं अपितु 'अप-टु-डेट' होना पड़ता है । प्रमिला अपने पुराने संस्कारों के कारण यह नहीं कर सकती । यही उसकी त्रासदी है ।

प्रमिला के व्यवहार के कारण महेन्द्र अपनी आफिस की कैशियर मिस सुषमा के प्रति आकृष्ट होता है । वह उसके घर जाने लगता है । महेन्द्र का मित्र नाटा जो बीस औरतों के साथ प्रेम कर चुका है और अपने को असली प्रेमी व अफलातून से कम दार्शनिक नहीं समझता[2], कई बार उसे समझाता है कि 'भले ही बीसियों स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखो, पर घरवालों से छिपाए रखो । इसी में सच्ची नैतिकता है ।'[3] किन्तु महेन्द्र भावावेश में अपनी पत्नी प्रमिला को सुषमा के सम्बन्ध में बताता है क्योंकि वह स्वयं को अपराधी महसूस करता है । वह प्रमिला से क्षमा भी मांगता है । यहां प्रमिला दाम्पत्य की डोर को ठीक से थामना चूक जाती है । वह यदि महेन्द्र को क्षमा कर देती और तभी से यदि उसमें अधिक रुचि लेने लगती तो उसकी नाव यों असमय टकराकर चकनाचूर न होती । पर वह महेन्द्र को भला-बुरा कहती है । उसका 'इद' ( id ) से प्रेरित सद्व्यवहार जब तिरस्कृत होता है तब उसका ( महेन्द्रका ) 'इगो' जागृत होता है जो उसे प्रमिला से दूर ले जाता है । प्रमिला अपनी सहेली सतवन्त को सारी स्थिति बता देती है । सतवन्त की सीख तथा बाद में स्वयं सतवन्त के व्यवहार से वह खाई और भी बढ़ती है जाती है । वह प्रमिला को छोड़ देता है । पप्पू को बोर्डिंग में डाल देता है । पति-

---

१. 'कड़ियां' : भीष्म साहनी : पृ० १२ । २. वही : पृ० १२४ । वही : पृ० ३३ ।

पत्नी के कलह का शिकार पप्पू को होना पड़ता है वह मजबूरन अनाथों सी ज़िन्दगी जीने पर विवश किया जाता है। वह महेन्द्र से सदैव सहमा-सहमा सा रहता है। आठ साल का है पर नेकर में पिशाब कर देता है। रातें में भी कपड़े बिगाड़ता है। पति-पत्नी का मन-मुटाव और उससे उत्पन्न बच्चे की दयनीय स्थिति को लेकर लिखा गया मन्नू भण्डारी का 'आपका बण्टी' ( १९७१ ) उपन्यास इस विशिष्ट स्थिति को और भी गहराई से उभारता है।

"हर ज़िन्दगी किसी न किसी खूटे से बंधी रहे तो वह अपना सन्तुलन बनाए रखती है, खूटा टूट जाए तो जैसे अधर में लटक जाती है।"[1] और महेन्द्र की ज़िन्दगी भी अपना सन्तुलन खो देती है। सुषमा भी उसे ~~सम्भ~~ संभाल नहीं पाती। उसका प्रेम भी क्रमश: शुष्क होता जाता है और महेन्द्र अपने समकक्ष अधिकारियों की पत्नियों पर डोरे डालना शुरू करता है। मिसेज भगत की ओर उसका झुकना यही ओर संकेत करता है।

सुषमा आधुनिक शिक्षित नौकरीपेशा नारी की विडंबना को गहराई से उभारती है। न चाहते हुए भी उसे व्यभिचारी ज़िन्दगी को भोगना पड़ता है। महेन्द्र को तो वह मन से चाहती थी पर डिप्टी डायरेक्टर मिस्टर वर्मा जिनके रिटायर होने में केवल दो साल रह गये हैं उनसे प्रेमालाप करने में तो उसे मतली-सी आती थी।[2]

प्रमिला अन्तत: पागल हो जाती है। उसके बूढ़े पिता बारंग जब बेचारे हलफनामा और एफिडेविट आदि से दो-चार रूपए कमाने के लिए कचहरी जाते हैं तब वह दिन भर सड़कों पर चक्कर काटती रहती है। बीच में नाटे के द्वारा दोनों को पुन: एक बार निकट लाने का असफल प्रयत्न होता है। महेन्द्र क्षणिक भावावेश तथा वासना के प्रवाह में बह जाता है। प्रमिला को गर्भ रहता है। अन्त में उसे पागलों की अस्पताल में भर्ती किया जाता है। डाक्टर का विश्वास है कि सन्तान प्राप्ति के बाद उसकी हालत ठीक हो जायगी। पर महेन्द्र उसे स्वीकार करना नहीं चाहता, अतएव उसकी बुद्धि प्रमिला पर संदेह करती है और वह सोचने ~~लगता~~ लगता है कि पागलपन के आलम में प्रमिला न जाने किस से काला मुंह कर आयी है।[3]

---

१. 'कड़ियां' : पृ० १९९ । २. वही : पृ० १७० । ३. वही : पृ० २१७ ।

प्रमिला पप्पू के लिए तरसती थी, अतः जब वह दूसरे पुत्र को जन्म देती है तब उसकी साधारणता लौट आती है। महेन्द्र से उसका मन फिर जाता है। उसका आत्मविश्वास भी थोड़ा बढ़ जाता है। उसके पिता नारंग उसे अपने बीमा की सात हजार की राशि दे देते हैं। उन रूपयों से वह दवाइयों की एक दूकान खोलना चाहती है और तदर्थ अपने पिता के एक परिचित के यहाँ दूकान का काम भी सीखती है।

महेन्द्र, प्रमिला, सतवन्त, नाटा, सुषमा, नारंग आदि पात्रों का चित्रण बड़े सहज ढंग से हुआ है। लेखक ने सीधे सपाट ~~ढंग~~- ढंग से कहानी लिखी है तथापि उसकी विश्वसनीयता एवं संवेद्यता में कोई कमी नहीं आने पायी है। लेखक ने बड़े ही कलात्मक ढंग से यह संकेत भी कथानक में अनुस्यूत कर दिया है कि पटरी से उखड़े हुए जीवन का समाधान परम्परागत विचार दृष्टि में नहीं बल्कि उससे मुक्त होने में है। सुषमा एवं महेन्द्र के सन्दर्भ में छिपकली के प्रतीक का बड़ा ही सटीक उपयोग लेखक ने किया है।[१] संक्षेप में कड़ियाँ विवाह एवं सेक्स की समस्या पर आधारित खण्डित दाम्पत्य तथा टूटते परिवार की कसक को गहराई से अंकित करने वाला उपन्यास है। विभक्त परिवार के भयस्थान तथा उसमें बच्चे की असहाय अवस्था को भी इसमें व्यंजित किया गया है। बढ़ते हुए व्यक्तिवाद तथा उसके दुष्परिणामों को यहाँ लेखक ने बखूबी चिन्हित किया है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य कहने-सुनने में एक बड़ा लज़ीज शब्द है, पर जिस देश में करोड़ों की संख्या में लोगों की रोजाना आमदनी तीस पैसे से अधिक न हो, वहाँ यह शब्द छलावा-मात्र बनकर रह जाता है। पश्चिम ने भी इसकी बड़ी कीमत चुकायी है और हमें भी चुकानी पड़ सकती है। अनेक पप्पू और प्रमिलाएं इसके शिकार हो रहे हैं।

## तमस ( १९७३ )

प्रगतिशील दृष्टि संपन्न भीष्म साहनी द्वारा प्रणीत ` तमस ` उन अन्धकारपूर्ण, अराजकतापूर्ण, वहशी दिनों की कथा को कहने वाला उपन्यास है, जिसमें भारत-विभाजन के पूर्व की साम्प्रदायिक विकृति को लेखक ने भलीभाँति चित्रित करने का प्रयत्न किया है। यशपाल कृत ` झूठा सच ` तथा डा० राही मासूम रज़ा कृत ` आधा गाँव ` में भी इसे उठाया गया है। परन्तु ` तमस ` में केवल साम्प्रदायिक

---

१. ` कड़ियाँ ` : पृ० १३ और १७१।

दंगों को आधार बनाकर उसका सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। आज़ादी के ठीक पहले साम्प्रदायिकता की बैसाखियां लगाकर पाशविकता का जो नंगा नाच हुआ उसके पांच दिनों की कथा को 'तमस' में लेखक ने इस खूबी से बुना है कि साम्प्रदायिकता का तार-तार उद्घाटित हो जाता है। साम्प्रदायिकता की समस्या हमारे यहां अंग्रेजी शासन की देन है। इतिहास में इसके पहले साम्प्रदायिक दंगे नहीं मिलते। ~~ब्रिटिश~~- द्विराष्ट्रवादी सिद्धान्त, हिन्दी उर्दू की समस्या को उभारना, मुस्लिम नेतृत्व को अतिरिक्त प्रोत्साहन देना आदि से हिन्दू और मुसलमानों में दरार पैदा करके उसे निरन्तर बढ़ाते रहे। अंग्रेज शासक वक्त-बेवक्त हिन्दू-मुसलमान दोनों को भड़काकर अपना उल्लू सीधा कर लिया करते थे। वे नहीं चाहते थे कि हिन्दू-मुसलमानों में अमन हो। फलत: दोनों को उकसाते थे और इस सारी प्रक्रिया में शिकार वे निरीह जन होते थे जिन्हें सियासी मामलों से कोई सरोकार नहीं। नत्थू, हरनामसिंह, बन्तो, इब्राहिम इत्रफरोश, इकबालसिंह, बूढ़ा लुहार करीमबख्श, बलदेवसिंह, की बूढ़ी मां, सुखवन्त, गण्डासिंह, प्रकाशो आदि ऐसे ही निर्दोष लोग हैं। या कुछ अमनपसन्द लोग जैसे जनरल, सोहनसिंह आदि।

डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड एक कुशल प्रशासक है। भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का प्रकाण्ड विद्वान् होने के बावजूद इंग्लैण्ड में अंग्रेजों द्वारा निर्णीत ~~नि~~- नीतियों के अमलीकरण में कठोर है। हयातबख्श, बख्शीजी आदि दोनों तरफ के नेता उससे मिलने गये थे। वह चाहता तो दंगे न होते। पर ऐसा वह क्यों चाहता ? जब शहर में हिन्दू-मुसलमानों के बीच फ़साद हो जाता है तब उसकी पत्नी लीज़ा के पूछने पर कि उसने फ़साद क्यों होने दिया ? ये लोग आपस में लड़ें, क्या यह अच्छी बात है ? तब रिचर्ड हंसकर जवाब देता है -- क्या यह अच्छी बात होगी कि ये लोग मिलकर मेरे खिलाफ़ लड़ें, मेरा खून करें ?... कैसा रहे अगर इस वक्त ये आवाज़ें मेरे घर के बाहर उठ रही हों, और ये लोग मेरा ~~खून~~ खून बहाने के लिए संगीनें उठाये बाहर खड़े हों ?"[1]

रिचर्ड के अनुसार सिविल सर्विस में मानवीय मूल्यों का कोई महत्व ~~नहीं~~ नहीं होता, वहां महत्व केवल शासकीय मूल्यों का होता है।" जब कभी द्विविधा

---

१. 'तमस' : भीष्म साहनी : पृ० १२२।

उठती तो वह अपने संवेदन को, अपने विचारों को अपनी डायरी में उँडेल देता था, प्रशासन के क्षेत्र में उसकी निजी मान्यताओं का कोई दखल नहीं था, बल्कि वे असंगत थीं। यह विचार कि हमारा आचरण हमारी मान्यताओं के अनुसार होना चाहिए, एक ऐसा भोंड़ा आदर्शवाद है जिससे सिविल सर्विस में नाम लिखाते ही अपना पिण्ड छुड़ा लेता है।"[१] तात्पर्य यह कि दंगों के पीछे अंग्रेजों की 'डिवाइड एण्ड रूल' की पालिसी ही काम करती थी।

साम्प्रदायिक दंगे किस प्रकार बढ़ते हैं, उसमें गहमागहमी किस प्रकार आती है, उसमें अफवाहें किस प्रकार तूल पकड़ती जाती हैं, वह किस प्रकार गहराता जाता है, वह कैसे भयंकर विभीषिका का रूप धारण कर अमानुषी अत्याचारों का नंगा नाच खेलने लगता है और अन्ततोगत्वा वह अंग्रेज द्वारा ही दबाया जाकर किस प्रकार दोनों का हितचिन्तक बनता है, उसका बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण 'तमस' में लेखक ने किया है।

उपन्यास के प्रारम्भ में मुरादअली नत्थू चमार को सलोतरी साहब का हवाला देकर एक सूअर मारने का आदेश देता है। मुरादअली नत्थू को जब-तब इधर-उधर का काम दिला देता था, अतः वह उसे मना नहीं कर सकता। वह नत्थू को इस काम के लिए पांच रूपये भी देता है। इसका रहस्य तो पांचवे परिच्छेद में खुलता है जब हम पढ़ते हैं कि किसी काफिर ने सूअर को मारकर मस्जिद के सामने फेंक दिया है। बेचारा नत्थू। उसने तो मुरादअली के आदेश पर सूअर को मार कर छकड़े में भेज दिया दिया था। उसे क्या मालूम कि उसके कार्य का यह हश्र होनेवाला है।

इसके जवाब में मुसलमान किसी गाय को मार कर मन्दिर के सामने फेंक देते हैं। कोई किसी इक्के-दुक्के मुसलमान को मार देता है तो कोई हिन्दू को। वातावरण तंग हो जाता है। इधर वानप्रस्थीजी हिन्दुओं को भड़काते हैं, उधर मुल्ला-मौलवी तथा गोलड़ा शरीफ के पीर आदि मुसलमानों को उकसाते हैं। मन्दिरों, मस्जिदों और गुरूद्वारों में असला (लड़ाई का सरंजाम) इकट्ठा होने लगता है। दोनों तरफ तड़ामार तैयारियां शुरू हो जाती हैं। मास्टर देवव्रत रणवीर, धर्मदेव, बोधराज, इन्द्र, शम्भू आदि युवकों को तालीम देना शुरू कर देते हैं। मुर्गों को कटवाकर हिंसा के पाठ पढ़ाये जाते हैं। तेल की कड़ाहियां चढ़ाई जाती हैं। प्रारम्भ के प्रभातफेरी और तामीरी काम जैसे कार्यक्रम ठप्प हो जाते हैं। कांग्रेसी नेता बख्शीजी

---

१. 'तमस': पृ० ४५।

तथा कामरेड देवदत्त आदि की भरसक कोशिश के बावजूद साम्प्रदायिक भावनाएं भड़कती जाती हैं। मन्दिर का बड़ा घड़ियाल ठीक करवा दिया जाता है। मण्डी में आग लगा दी जाती है। उधर मस्जिद में जोक-दर-जोक लोगों का हुजूम बढ़ता जाता है। मन्दिर-मस्जिद और गुरुद्वारे साम्प्रदायिक उकसाहट के केन्द्र बन जाते हैं।

शनैः शनैः यह कौमी ज़हर सामाजिक जीवन की रगों में इतना फैल जाता है कि अच्छे-खासे लोग भी होशो-हवास खो बैठते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण शाहनवाज़ के किस्से में लेखक ने दिया है। शाहनवाज़ इस कौमी ज़हर के बहुत ऊपर है। वह अपने मित्र रघुनाथ और उसकी पत्नी को एक सुरक्षित स्थान पर पहुंचा देता है। रघुनाथ की पत्नी अपने कुछ जेवर उसके द्वारा अपने पुराने मकान से मंगवाती है। वहां से जेवर लाते समय वह रघुनाथ के हिन्दू नौकर मिलखी को अचानक-अकारण ही लात मारकर सीढ़ियों से गिराते हुए अधमुआ कर देता है। वह खुद अपने इस कार्य को नहीं समझ पाता पर एक भभूका-सा अचानक दिल में उठा था।[1]

जरनैल एक सनकी आदमी है और जब-तब तकरीरें देता है। उसे किसी का खौफ़ नहीं। वह जवाहर-गांधी को बारबार दोहराता है। वैसे सनकी होने के बावजूद उसकी बातों में वजूद होता है -- 'साहिबान, मैं आप से कहता हूं कि हिन्दु-मुसलमान भाई-भाई हैं, शहर में फिसाद हो रहा है, आगज़नी हो रही है और उसे कोई रोकता नहीं। डिप्टी कमिश्नर अपनी मेम को बांहों में लेकर बैठा है और मैं कहता हूं कि हमारा दुश्मन अंग्रेज़ है। गांधीजी कहते हैं कि वही हमें लड़ाता है और हम भाई-भाई हैं। हमें अंग्रेज़ की बातों में नहीं आना चाहिए। और गांधीजी का फ़रमान है कि पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा। मैं भी कहता हूं पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा। हम एक हैं, हम भाई-भाई हैं, हम मिलकर रहेंगे....।' पर इतने में 'तेरी मां की --' किसी ने कहा और लाठी के एक भरपूर वार से जरनैल की खोपड़ी फोड़ दी।[2] जरनैल मारा गया।

हिन्दू और मुसलमान दोनों आमने-सामने आने का साहस नहीं कर पाते। इक्के-दुक्के निर्दोष -- कई बार बूढ़े -- लोगों पर वार करके अपनी धार्मिकता

---

१. 'तमस' : पृ० १४७। २. वही : पृ० १५६-१५७।

और कौम की खिदमत के तमगे बटोरते हैं। इब्राहीम इत्रफरोश की मौत इसका एक अच्छा उदाहरण है -- "यह आदमी म्लेच्छ था, अजनबी था, थैलों से लदा था, न भाग सकता था, न अपने को बचा सकता था, और थका हुआ था। सभी गुण मौजूद थे।"[१] ऐसे आदमी की हत्या कर रणवीर, इन्द्र, शम्भू आदि अपनी वीरता प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में यदि धर्म के नाम पर शहीद होने की नौबत आवे तो शायद इनमें से सभी भाग खड़े हो जाय। इन्द्र जब इत्रफरोश के पीछे-पीछे जाता है तब वह बेचारा सोचता है कि कोई लड़का डर का मारा उसके साथ-साथ चल रहा है। उसे क्या मालूम कि उसके पेट में दाढ़ीवाला बैठा है और मौका मिलते ही इन्द्र उस पर प्रहार कर देता है।

इस प्रकार प्रथम खण्ड में लेखक ने साम्प्रदायिक दंगों के गहराते माहौल का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है। द्वितीय खण्ड में फैलते हुए इस कौमी ज़हर की भयंकर विद्रूप विभीषिकाओं का वर्णन किया है। शहर का यह ज़हर गांवों में भी फैल जाता है। सैयदपुर, खानपुर, ढोक इलाही, बख्श, नुरपुर आदि स सभी गांव सुलगने लगते हैं। हरनामसिंह और बन्तो जैसे हजारों लोग घर से बेघर हो जाते हैं। प्रकाशो जैसी कई लड़कियों को अल्लारखा जैसे घरमें बिठा देते हैं। इकबालसिंह जैसे कइयों से धर्म-परिवर्तन करवाया जाता है। कइयों की जबरदस्ती सुन्नत होती है। उनके मुंह में गौ-मांस ठांसा जाता है। सैयदपुर में दोनों तरफ के लोग मस्जिद तथा गुरुद्वारा में असला जमा करते हैं। 'अल्लाह-ओ-अकबर' और 'सत सिरी अकाल' के नारों से आकाश हिल उठता है। सोहनसिंह और मिगदाद दोनों मेल कराने का खूब प्रयत्न करते हैं, अत: दोनों अपनी-अपनी जातियों में अपमानित होते हैं। दूसरे गांवों से बलवाई आते हैं। गुरुद्वारे का असला खत्म हो जाता है। कुछ रुपये ले-देकर स्थिति को संभालने की पैरवी की जाती है पर तब तक स्थिति बेकाबू हो जाती है। बलदेवसिंह बूढ़े लुहार करीम बख्श के सीने में तलवार भोंक आता है क्योंकि वह सोचता है कि बलवाइयों ने उसकी बूढ़ी मां को मार डाला होगा। कैसा वहशीपन। मां को मारने वाले से भिड़ने का दम नहीं है, इसलिए विपक्षी के ऐसे ही किसी असहाय बूढ़े की हत्या की जाती है। मां-बहनों की इज्ज़त सरे आम लूटी जाती है। मुर्दे के साथ भी बलात्कार किए जाते हैं। सैयदपुर में जसबीर जैसी कई औरतें इज्ज़त बचाने के लिए कुएं में कूदकर आत्महत्या कर लेती हैं।

---

१. 'तमस' : पृ० १६३-१६४।

पर ऐसे में भी इन्सानियत का दीया टिमटिमाता कहीं कहीं नज़र आता है। हरनामसिंह और बन्तों को राजो -- एक मुसलमान औरत -- ही पनाह देती है। उसका लड़का रमजान लिगी और खून-खच्चरवाला है : पर उसके हाथ भी पनाहगीन पर नहीं उठते। भीड़ में खोकर मारना-लूटना एक बात है पर अकेले में किसी परिचित पर वार करना दुश्वार कार्य है। इस प्रकार लेखक ने भीड़ के मनोविज्ञान ~~कक~~ ( Mob Psychology ) का अच्छा परिचय दिया है। ऐसे फ़िसादों में कुछ गुण्डा तत्वों को चांदी हो जाती है, उनका ध्यान लूट-खसोट पर ही होता है।

अन्त में प्रशासन द्वारा फ़िसाद दबा दिया जाता है। रिफ़्यूजी केम्प खुल जाते हैं। आंकड़े इकट्ठे किये जाते हैं। डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड तथा अंग्रेज़ ~~बहादुर~~ बहादुर की प्रशंसा होती है। प्रारम्भ के शहरी पात्र फिर अमन कमेटी बनाते हुए नज़र आते हैं। नत्थू मार दिया गया है क्योंकि उसके द्वारा कलई खुल जाने का डर था। और मुरादअली ड्राइवर के पासवाली सीट पर बैठकर अमन कायम करने की अपील कर रहा है।[१] कहने की ज़रूरत नहीं कि यह वही शख्स है कि जिसने सूअर मस्जिद के सामने फिंकवाकर फ़िसाद को हवा दी थी। उपन्यास के अन्त की इस नाटकीय व्यंग्यात्मकता में लेखक ने की कला एवं सूझ-बूझ का परिचय मिलता है।

## एक पंखड़ी की तेज़ धार ( १९६५ )

शमशेर सिंह नरूला द्वारा प्रणीत प्रस्तुत उपन्यास गांधीजी की हत्या के समय की परिस्थितियों पर आधारित हिन्दी का पहला उपन्यास है। 'झूठा सच', 'तमस', 'प्रश्न और मरीचिका' जैसे कुछ उपन्यासों में स्वाधीनता-प्राप्ति के आसपास का राजनीतिक-सामाजिक वातावरण चित्रित है। परन्तु उन दिनों घृणा का कैसा साम्राज्य फैलता जा रहा था और किन परिस्थितियों में महात्मा गांधी की हत्या हुई उसका बड़ा ही सटीक ब्यौरा इस उपन्यास में उपलब्ध होता है।

' गांधीजी की हत्या की परिस्थितियों पर आधारित होने के कारण इस उपन्यास में कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों और उनसे सम्बद्ध घटनाओं और

---

१. 'तमस' : पृ० २८३।

संस्थाओं का उल्लेख ज़रूरी था । उसके अतिरिक्त सब पात्र, घटनाएं और संस्थाएं कल्पित हैं ।"[1]

उपन्यास का प्रारम्भ पन्द्रह अगस्त के स्वाधीनता समारोह से होता है । 'प्रश्न और मरीचिका' का प्रारम्भ बिन्दु भी यही है, किन्तु वहां उसके बाद के पंद्रह वर्षों के इतिहास को एक बृहद् कैनवास पर उतारा गया है जबकि प्रस्तुत उपन्यास में १५ अगस्त १९४७ से ३० जनवरी १९४८ तक के साढ़े-पांच महीनों की गतिविधियों को अंकित करते हुए लेखक ने अपनी पैनी सामाजिक दृष्टि द्वारा उपन्यास को असाधारण गहराई और अनुभूति प्रदान की है ।

उपन्यास का उद्देश्य एक नाजुक ऐतिहासिक स्थिति-विशेष का चित्रण है , जिसके सफल निरूपण के लिए लेखक ने व्यंग्यात्मकता का सहारा लिया है । शिव शंकर कोहली किस प्रकार ठगी के पेशे से शायर, कहानीकार और अन्त में नेता बनकर रिफ्यूजी एसोसिएशन का प्रमुख बन जाता है : किस प्रकार हाल के पाकिस्तान में बसे हुए काम-धन्धे और घर-बार वाले लोग रातोंरात बेकार व बेघर होकर तीसहजारी शरणार्थी कैम्प में ठूंस दिये जाते हैं : किस प्रकार यहां के कुछ मुसलमानों की संपत्ति एवं घर हथिया लिए जाते हैं : किस प्रकार प्रारम्भ का प्रामाणिक व निष्ठावान चाननमल 'देश भारत' का पत्रकार सी० एम० चोपड़ा के रूप में एक मक्कार फ़रेबी एवं दोगला आदमी हो जाता है : किस प्रकार 'देश भारत' के मालिक आचार्य रामचन्द्र पहले पाकिस्तान की वफ़ादारी जाहिर करके बाद में दिल्ली में के कनाट प्लेस में अपना दफ़्तर खोल लेते हैं और नेहरू और गांधी के ख़िलाफ़ लोगों को बरगलाते हुए माहवार तीस हजार रूपये की आमदनी का जरिया ढूंढ लेते हैं : किस प्रकार पुराने कांग्रेसी सालिगराम और उनकी पत्नी भगवती देवी अनाथों के नाम पर फंड इकट्ठा करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं : किस प्रकार हिन्दू-महासभा के लोग शरणार्थियों को गांधी के विरूद्ध भड़काते हैं और कैसे उनके खिलाफ़ एक विषाक्त वातावरण तैयार किया जाता है : समाचारों को कैसे तोड़ा-मरोड़ा जाता है : कैसे कुछ विदेशी हित संपत्ति के जोर पर हमारे देश में लोगों को भड़काने का कार्य करते हैं : सत्ता के सूत्रों को परिवर्तित करने के लिए कैसे कैसे हथकण्डे काम में लाये जाते हैं : किस प्रकार कुछ अत्यन्त भ्रष्ट लोग ऊंचे और प्रभावशाली स्थानों को हथिया लेते हैं : किस प्रकार भीड़ को इकट्ठा किया जाता है : और अन्त में किस प्रकार गांधीजी की हत्या के पश्चात् सारे देश में एक शान्त सहमी हुई स्तब्धता

व्याप्त हो जाती है। यह तथा ऐसी अनेक स्थितियों का चित्रण लेखक ने इस खूबी से कि किया है कि वह सारा वातावरण खुली किताब की नाईंनाई स्पष्ट हो जाता है। कार्ल मार्क्स ने बाल्ज़ाक के उपन्यासों के सन्दर्भ में जो कहा है कि उनसे फ्रान्स के समग्र इतिहास पर को समझने में बड़ी आसानी रहती है, उसी प्रकार प्रस्तुत उपन्यास भी भी अपने युग के इतिहास को कहने में इतिहास से भी अधिक साम-र्थवान बन पड़ा है।

इस उपन्यास में नवीनतम यूरोपीय उपन्यास की तकनीकी उपलब्धियों को अत्यन्त सफलता से प्रयोग में लाया गया है। परिपाटी बद्ध पात्र, किस्सा-गो-टाईप कथा शैली, रीतिबद्ध चरित्र-चित्रण और परम्परागत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अब परित्यक्त हो रहे हैं- होते जा रहे हैं। अब उपन्यास में एक स्थिति-विशेष को मूर्तिमन्त स्वरूप प्रदान किया जाता है और 'एक पंखड़ी की तेज़ धार' वैसा ही एक प्रयास है।

## मछली मरी हुई ( १९६६ )

कवि, कहानीकार, लघु-उपन्यासकार राजकमल चौधरी का व्यक्तित्व आधुनिक हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक विवादास्पद रहा है। "न केवल उनका लेखन बल्कि वैयक्तिक जीवन तक नई पीढ़ी की चाय की मेजों पर चर्चित होता रहा है।"[१] उनके साहित्य में आक्रोश, यौनाचार, कुण्ठाएं, और नैतिक निषेधों को स्थान मिला है। कथ्य, भाषा, गठन और प्रेषणीयता की नवीनता राजकमल की विशिष्टताएं हैं। साम्प्रत शहरी ज़िन्दगी के विभिन्न आयामों को -- शिक्षा-दीक्षा, सभ्यता, तड़क-भड़क और इन सबमें से झांकते हुए खोखलेपन को -- लेखक ने एक व्यंग्य तिक्तता के साथ उभारा है। कुछ आलोचकों के मतानुसार उनका साहित्य अश्लील या 'पोर्नोग्राफिक' अतएव प्यारेलाल आवारा की कोटि का है तो कुछ आलोचक उनको उग्र और निराला की पंक्ति में बिठाते हैं।[२] डा० घनश्याम मधुप के शब्दों में "दरअसल राजकमल स्वातन्त्र्योत्तर भारत की संक्रान्तिकालीन पीढ़ी का लेखक है जिसके सामने अपनी पुरानी मान्यताएं -- सामाजिक, नैतिक और आर्थिक टूक-टूक होकर बिखर

---

१. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : डॉ० घनश्याम मधुप : पृ० ११६।

२. देखिए : वही : पृ० ९२।

चुकी हैं और नयी मान्यताओं का जन्म तक नहीं हो पाया है।'[१]

'मछली मरी हुई' समलैंगिक स्त्री यौनाचार ( लेस्बियां ) पर लिखा गया हिन्दी का सम्भवत: प्रथम उपन्यास है। लेखक ने इस प्रवृत्ति का विवरण प्रारम्भ में तथा उपन्यास के तेरहवें परिच्छेद में ( पृ० १२१-१२४ ) दिया है। उसके अनुसार इसमें विषय नहीं, विषय-प्रस्ताव मात्र है।[२]

'पिछली बड़ी लड़ाई में के बाद कलकत्ता शहर में नई पीढ़ी के व्यापारियों की एक जमात एक सुबह सोकर उठने के बाद, अचानक पूंजी, प्रभुत्व और उद्योग-धन्धों की बन्द तिजोरियां खोलकर, नया से नया व्यापार करने के लिए चौरंगी, डलहौजी --स्क्वायर, महात्मा गांधी रोड़, धर्मतल्ला और पुरानी क्लाइव स्ट्रीट में, अमरीकी शैली के ऊंचे दफ्तरों में बैठ गई।'[3] इसका नायक निर्मल पद्मावत भी इसी जमात का एक व्यापारी है।

बचपन में पिता की मृत्यु के बाद उसकी मां ने पैतृक मकान बेच डाला और एक 'लोरी' वाले ड्राइवर के साथ भाग गई। 'मां के भाग जाने का उसे दु:ख नहीं हुआ। मकान बिक जाने की तकलीफ उसे ज़रूर हुई। मां को आदमी की ज़रूरत थी : अच्छा किया जो चली गई। लेकिन, मकान क्यों ले गई ?'[४] इस घटना ने नि निर्मल को असाधारण बना दिया। 'मकान' उसकी चेतना पर ऐसा छा गया कि एक दिन प्रिन्सेस स्ट्रीट पर तीस मंज़िला 'स्काई-स्क्रेपर' -- कल्याणी मेन्शन उसने बना ही डाला। एडलर महोदय के अनुसार मनुष्य के जीवन की किसी कमी या क्षति की पूर्ति प्रभुत्व-प्राप्ति से होती है। निर्मल का उपर्युक्त प्रयास इसी सिद्धान्त का द्योतन करता है।

गांव से कराची, लाहौर, सियालकोट, बम्बई होते हुए वह एक मालजहाज़ के कैन्टीन में बैरा होकर कई बार पूरी दुनिया की सफ़र करता है। टोकियो, हांगकांग, पेकिंग, मास्को, वारसा, बुडापैस्ट, बर्लिन, वियेना, पेरिस आदि महानगरों की खाक उसने छानी है। महायुद्ध में टूट-फूटकर बिखरता हुआ यूरोप उसने देखा था। अत: उसके पास अनुभव की बहुत बड़ी पूंजी थी। फलत: प्रसिद्ध उद्योगपति

---

१. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० ८८२। २. मछली मरी हुई : राजकमल चौधरी : पृ० ११। ३. वही : पृ० ११। ४. वही : पृ० ४१।

प्रभास चन्द्र नियोगी -- जिसके बारे में उसने ' हू-इज़-हू इन कैलकटा-बिजनेस-इण्डस्ट्री ' नामक पुस्तक में पढ़ा था -- के सहयोग से कुछ वर्षों में वह एक महान उद्योगपति व एक बहुत ऊँचे स्काई-स्क्रैपर ' कल्याणी-मैन्शन ' का मालिक बन जाता है। माँ के भाग जाने और बेघर होने से उत्पन्न असाधारणता का यहाँ अन्त आ जाता यदि न्यूयार्क में वह कल्याणी से न मिलता। इसे उसके भाग्य की एक विडंबना ही कहना चाहिए कि एक नारी ( उसकी माँ ) ने उसमें मकान की चेतना जगायी तो दूसरी ने नाम की प्रेरणा दी।

' कल्याणी ' उसके जीवन का दूसरा मोड़ है। वह डाक्टरी पढ़ने अमरीका गई थी, परन्तु ' फारेन एक्सचेंज ' की दिक्कत से घर से पैसे आने बन्द हो गये और वह वहाँ भटक गई। उसके बाद वह न्यूयार्क, कैलिफोर्निया और लॉस-एन्जिल्स के कहवाघरों और नाचघरों में चक्कर काटने लगी। ड्रम और आर्कोडियन की वहशी धुनों पर सिल्वाना मैंगानो और सोफिया लारेन की तरह नाचने लगी। माडलिंग, कालगर्ल और ब्लू-फिल्मों में काम, उसका पेशा बन गया। ' पोर्ट ', ' शेरी ', ' वार मुथ ', ' शैरायि रम ' की बोटलों में वह खो गई।

भारतीय दूतावास के एक जलसे में निर्मल ने कल्याणी को प्रथम बार देखा था और फिर उसे कभी भुला नहीं सका। दूसरी बार ' ब्राड वे ' के एक थियेटर में अचानक मुलाकात हो गई। वह एक सरदारजी को फाँसा देना चाहती थी और उसमें निर्मल ने उसे सहायता की। उनका परिचय क्रमश: मित्रता में बदलता गया। उन दिनों ' प्रताप ' नामक एक पुराने जमींदार के नये वारिस को वह फाँसना चाहती है, परन्तु लड़के के चाचाजी की चालाकी से उसे नाकामी मिलती है। तब वह निर्मल से अचानक पैसों की माँग करती है। उसके आकर्षण से वशीभूत निर्मल अपनी सारी जमा-पूंजी ( बारह सौ पचास डालर ) कल्याणी को दे देता है। कृतज्ञतावश वह उसे अपना शरीर देना चाहती है।[१]

---

१. " निर्मल तुम मेरे अपने देश के हो आदमी हो। अपनी ज़ुबान में बोलोगे। यहाँ मेरा अमरिकनों से ही नहीं, चाइनीज़ और अफ्रिकनों से भी वास्ता पड़ता है। सभी मुझे ' व्हाइट इण्डियन लेडी ' कहते हैं और मेरा उजलापन चूस डालना चाहते हैं। तुम मेरे अपने देश के हो, चूसोगे नहीं, कोमल हाथों से मेरे ज़ख्म सहलाओगे, मेरे दर्दों पर मरहम लगाओगे ..." : ' मछली मरी हुई ' : पृ० ६३।

निर्मल पहले हिचकता है, बाद में वासना के प्रवाह में बहने लगता है। पर तभी वह काले पत्थरों के पहाड़-सा आदमी बरफ-सा ठण्डा पड़ जाता है। लेखक ने इसका बड़ा ही सांकेतिक वर्णन किया है। "दो-तीन मिनट बाद कल्याणी के ने पट्टियां छोड़ दी और अचानक उसकी निगाहें घुटनों के बल उठते हुए निर्मल की ओर गई। निर्मल बर्फ के टुकड़े की तरह ठण्डा हो चुका था। मर चुका था। आंखों के अंगारे बुझ चुके थे।... तुम यही आदमी हो?... इतने से आदमी हो ? बस... । इसी के लिए.... इतने ही के लिए मेरे पास आये थे ?... छि: छि: कल्याणी चीखने लगी.... फिर कभी इधर नहीं आना निर्मल। तुम आदमी नहीं हो, नरक के कीड़े हो... मत आना कभी।"[१]

यौन-मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रथम सम्भोग में पुरूष का अधिक उत्तेजित होकर शीघ्र स्खलित होना कोई दोष या नपुंसकत्व नहीं है। दूसरे निर्मल के इस स्थिति के लिए अचानक 'स्केलेटन' को देखने से उत्पन्न उसकी मन:स्थिति भी है। अत: कल्याणी ने यदि सहानुभूति से काम लिया होता तो निर्मल फिर से तैयार हो सकता था। परन्तु कल्याणी की भर्त्सना तथा घोर तिरस्कार से निर्मल कुण्ठाओं का शिकार होकर अन्ततोगत्वा नपुंसक हो गया। इस कुण्ठा से मुक्ति कल्याणी ही दे सकती थी, किन्तु वह पुन: उसके पास जाने का साहस नहीं जुटा पाया। और जब वह साहस आया तब कल्याणी डाक्टर रघुवंश से शादी कर, छ:-सात साल की छोटी-सी लड़की प्रिया को छोड़कर पार्क-स्ट्रीट की 'सिमेट्री' में शांति की नींद ले रही थी। डा० रघुवंश निर्मल के बारे में सबकुछ जानते हैं। उनका विश्वास था कि प्रिया बड़ी होकर निर्मल को उस कुण्ठा से मुक्ति दिलाकर पुन: मर्द बनाएगी। परन्तु विश्वजीत मेहता के द्वारा किये गये कल्याणी के अपमान से प्रेरित होकर निर्मल उसकी बीबी शीरीं मेहता को शीरीं पद्मावत बना देता है। उसके जीवन में एक करुण अध्याय और जुड़ता है।

शीरीं समलैंगिक यौनाचार में डूबी हुई लिस्बियन औरत है। जब वह छ: साल की थी तब प्रसव-काल में उसकी मां का देहान्त हुआ था। तभी से उसके मन में ग्रन्थि पड़ गयी -- मां बनने की आकांक्षा दफन हो गई। उसकी बड़ी बहन ने उसकी इस गांठ को और उलझाया और दुनियाभर के मर्दों के लिए उसमें

---

१. 'मछली मरी हुई' : पृ० ६७-६८।

नफ़रत पैदा की, क्योंकि वह उसका प्यार चाहती थी । बड़ी बहन के साथ संग में शीरीं पक्की लिस्बियन हो गई । उसको समझाया गया कि बिना किसी पुरुष की सहायता लिए दो औरतें भी शारीरिक जीवन बिता सकती हैं । " दोनों बहनें रात में बिस्तरे पर इकट्ठी सोती थीं । दरवाज़ और खिड़कियां बन्द कर लेती थीं । सीलिंग फैन पूरी स्पीड़ में चलता रहता था । शीरीं खुश थी कि बड़ी बहन इतनी प्यारी है । इतनी होशियार है । शीरीं भीग जाती थी । उसे महसूस होता था, उसके हाथ और पैर ठण्ड़ पड़ रहे हैं । जमे जा रहे हैं । फिर भी वह बड़ी बहन की नंगी देह से लिपटी रहती थी । अपनी उंगलियों से उसे सहलाती और थपथपाती रहती थी । शीरीं की उंगलियां भीग जाती थीं । बड़ी बहन खुशी से चीखती थी और शीरीं के स्तनों पर दांत गड़ा देती थी ।"[१]

शीरीं प्रारम्भ से साधारण थी । उसकी 'इलेक्ट्रा काम्पलेक्स' उसे पिता की ओर ले जाती थी । पर उसकी बहन ने अपने स्वार्थ के लिए उसमें पुरुष के लिए भय पैदा किया और बाद में वह किसी के संग चली गई । इसके पश्चात् उसके जीवन में यदि कोई पुरुष आता तो उसकी वह आदत छूट सकती थी, पर किस्मत में था बूढ़ा विश्वजीत मेहता । उसके बिस्तरे में उसे आनन्द नहीं आता था क्योंकि बिस्तरा ठण्डा होता है । उनके बुढ़ापे में नमीं, लचीलापन और कोमलता नहीं, सूखे हुए पेड़ की डाल का कड़ापन है । अत: शीरीं माडर्न सोसायटी के क्लाव-श्रृंगार कलबों और पार्टियों में खो जाती है और नये शिकारों को टोहती रहती है । प्रिया उसका ऐसा ही शिकार है । एक पार्टी में जान-बूझकर साड़ी पर काफ़ी गिराकर बाद में धोने के बहाने बाथ में उससे लिपट पड़ती है और धीरे धीरे मित्रता गांठकर अपने वश में कर लेती है । बिशु के बाद निर्मल से सम्बन्ध जोड़ती है, परन्तु कल्याणी की भर्त्सना से उत्पन्न असाधारणता के कारण वह भी उसे शारीरिक सुख नहीं दे पाता । भूखी बिल्ली की तरह वह तड़पती रहती है ।

शीरीं और प्रिया के समलैंगिक व्यवहार का लेखक ने मछली का प्रतीक देते हुए सूक्ष्मता और विस्तार से वर्णन किया है : " मछलियां अंधेरे में तैर रही हैं, एक-दूसरे को पकड़ने लिए उछल रही हैं । मगर बांहें नहीं है । मछलियां एक-दूसरे में लिपटने लिए तड़प रही हैं, मगर पांव नहीं है ।... एक मछली कहती है, 'और पास आओ, अपने होठों से मुझे पी जाओ । मेरे होठों में अपनी जीभ डाल दो । अपने शरीर से मुझे रगड़ती रहो । मैं मर रही हूं... दूसरी मछली कहती है, मैं मर रही हूं

१. 'मछली मरी हुई' : पृ. १०६-११० ।

.... मेरी हड्डियां तोड़ डालो । मेरे होंठ अपने दांतों से कुतर डालो । मार डालो मुझे ... मैं मरना चाहती हूं ।"[1] इस कथन के प्रारम्भिक अंश में तो ' मछली ' के प्रतीक का सफल प्रयोग हुआ है, परन्तु बाद की क्रिया-कलापों के वर्णन में प्रतीक की सांकेतिकता नहीं रह पायी है ।

मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि असाधारण पुरुष कुण्ठाओं के वशीभूत होकर नपुंसक हो जाता है । वास्तव में वह नपुंसक होता नहीं । किसी परिस्थिति-विशेष में पड़कर उसका पौरुष फूट पड़ता है । निर्मल पद्मावत ऐसा ही पुरुष है । प्रिया जब उसके नपुंसकत्व की ओर इशारा करती है, तब वह बौखला पड़ता है । उसे लगता है कि कल्याणी ही प्रिया के रूप में पार्क-स्ट्रीट सीमेंट्री से निकलकर मानो आह्वान दे रही है और वह पशु की तरह टूट पड़ता है । एक बार नहीं, अनेक बार वह प्रिया पर सफल बलात्कार करता है । उसका पुंसत्व लौट आता है । प्रिया भी पुरुष के सम्भोग का लुत्फ़ पाकर साधारण हो जाती है । डा० रघुवंश को इस बात की खुशी होती है कि आखिर प्रिया ने कल्याणी का काम किया और वह-वह स्वयं भी एक साधारण स्त्री बन सकी । निर्मल पद्मावत ने व्यापार में घाटा खाया पर ' कल्याणी मैन्शन को किसी प्रकार बचा ~~लिया~~- कर प्रिया को दे दिया । और वह नीली मछली - शीरीं पद्मावत को पाकर फिर जी उठी ।

अस्तु, इस छोटे से उपन्यास में लेखक ने अभिजात समाज के उन्मुक्त भोग से सम्बद्ध खोखलेपन को चित्रित किया है । ' मरी हुई मछलियों के बारे में ' प्रारम्भ में कहने के बाद तेरहवें अध्याय में उसकी पुनरावृत्ति में क्या तुक है ? केवल वैचित्र्य, नवीनता, आधुनिकता के ज्ञान का प्रदर्शन या और कुछ ? वह अध्याय किसी ' रेफरन्स बुक ' सा जान पड़ता है । वैसे लेखक ने एक नवीन समस्या को उठाया ज़रूर है, परन्तु उसका समापन फार्मूला-टाइप हो गया है । क्या साधारण हो जाने के बाद उद्योग में घाटा खाना आवश्यक था ? लेखक कहीं ऐसा तो प्रतिपादित नहीं करना नहीं चाहता कि हर सफल उद्योगपति असाधारण होता है ? डा० रघुवंश का चरित्र क्या आवश्यकता से अधिक ' फारवर्ड ' नहीं दीखता ? अन्त में डा० रघुवंश की आत्महत्या में भी ~~मानो कुछेक~~ कोई तुक नहीं दीखती ? क्या डा० रघुवंश का उद्देश्य निर्मल का पुंसत्व लौटाना-मात्र था ? प्रेमचन्द-पूर्व और प्रेमचन्द काल की भी, समस्यामूलक कथाओं को यदि हम फार्मूलाबद्ध कहते हैं तो ' मछली मरी हुई ' भी एक मनोवैज्ञानिक समस्या की फार्मूलाबद्ध कहानी है ।

---

१. 'मछली मरी हुई' पृ. १२० ।

वस्तुत: ` मछली मरी हुई ` की सफलता का आधार उसका शिल्प है। डा० धनराज मानधाने के शब्दों में " कथा को प्रस्तुत करने का चौधरी जी का अपना एक ढंग है। उपन्यास को पढ़ते समय हम ` कोनार्ड ` के उपन्यासों का सा मज़ा लूटते हैं। कथा कहीं भी A to Z नहीं चलती। कथा के धागे डोरों में ऐसा गुम्फन है कि जागृत मस्तिष्क के बिना समझना मुश्किल हो जाता है। निर्मल पद्मावत, कल्याणी, शीरीं, प्रिया, डा० रघुवंश, विश्वजीत मेहता, प्रभासचन्द्र नियोगी आदि पात्रों के बारे में एक साथ जाना नहीं जा सकता। एक पात्र के विषय में सबकुछ जानने के लिए पाठक को उपन्यास बारबार पढ़ना पड़ता है। यही कसौटी राजकमल चौधरी को आधुनिक उपन्यासकारों की कोटि में ला बिठाती है।"[१] लेखक ने अपनी जानकारियों का सही उपयोग वस्तु-संगठन में किया है। लेखक विश्व के साम्प्रतिक विचार-प्रवाहों से इतनी सामग्री लेता है कि उपन्यास को समझने के लिए पाठक का प्रबुद्ध होना आवश्यक है।

राजकमल के अन्य उपन्यासों में नदी बहती थी ` ( १९६१ ), ` शहर था शहर नहीं था ` ( १९६६ ), ` देहगाथा ` ( १९६७ ) तथा ` बीस रानियोंवाला बायस्कोप ` प्रभृति मुख्य हैं। ` नदी बहती थी ` में सेक्स और अर्थ को केन्द्र में रखकर लेखक ने कलकत्ता के मध्यवर्गीय बंगाली समाज का यथार्थ चित्रण किया है। ` शहर था शहर नहीं था ` में लेखक ने पटना की एक नयी बस्ती को कथा का आधार बनाया है। राजकमल की यह पहली कृति है जिसमें से उसका व्यक्तित्व नहीं झांकता। इसकी कथा में विशृंखलता, बिखराव और सूत्रहीनता है। ` देहगाथा ` एक प्रकार से लेखक की आपबीती है। विवाह, रिश्ते, पारम्परिक मान्यताओं आदि का खोखलापन इसमें चित्रित हुआ है। इस प्रकार राजकमल चौधरी में भी रमेश बक्षी तथा महेन्द्र भल्ला जैसी चौंकाने वाली प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। समाज के घृणित व घिनौने रूप को प्रस्तुत कर परम्पराओं पर चोट करना मानो उनका उद्देश्य है। उनका औपन्यासिक वस्तु-चयन भी इसी दृष्टिकोण का परिणाम है।

---

१. ` हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास ` : डॉ० धनराज मानधाने : पृ० २७९।

## बैसाखियोंवाली इमारतें ( १९६६ )

रमेश बक्षी साठोत्तरी कथाकारों में एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनके लेखन को चौंकाने वाली यौनाभिमुखी[1] अहं-केन्द्रित[2] चेतना उन्हें प्रयोगधर्मिता की ओर बरबस ही खींच ले गयी है। उनकी कथा-सृष्टि अधिकांशत: आधुनिक नगरीय परिवेश से सम्बद्ध है। डॉ० घनश्याम मधुप के शब्दों में " उनकी अधिकांश नायिकाएं स्कर्ट वाली छात्राएं होती हैं। फ्लैट, स्ट्रीट, स्कर्ट, स्पोर्ट, शर्ट, और होटल, टेबुल, कुर्सियां इन सबके ऊपर किशोर और किशोरियों के अधकचरे प्रेम की कहानी ही लेखक ने हर बार लिखी है। सच तो यह है कि रमेश बक्षी मूलत: निम्न मध्य वर्गीय व्यक्ति हैं जिसके संस्कारों पर कस्बाई वातावरण छाया हुआ है और वह हैं कि इस सबको फुठलाना चाहते हैं।"[3] तथापि रमेश बक्षी के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी और प्रेमी-प्रेमिका मिथुन सम्बन्धों पर एक खुली आंख का दृष्टिपात मिलता है। डा० धनराज मानधाने के मतानुसार इन्होंने वसुधा, जायस ( बैसाखियोंवाली इमारतें ) जैसी नायिकाओं का निर्माण कर प्राचीन नारी सम्बन्धित मान्यताओं पर फुलपाइंट लगा दिया है।[4]

'किस्से ऊपर किस्सा' ( १९६३ ), 'हम तिनके' ( १९६३ ), एक घिसा हुआ चेहरा' (१९६४), 'अठारह सूरज के पौधे' (१९६५), 'बैसाखियोंवाली इमारतें' ( १९६६) तथा 'चलता हुआ लावा' प्रभृति उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

---

१. द्रष्टव्य : " रमेश बक्षी का लेखन एक चौंकाने वाली प्रक्रिया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अनुभव की सच्चाई और अभिव्यक्ति की सफाई की विशेषताओं से युक्त उनका कथा-साहित्य एक विशेष प्रकार के आक्रोश और यौन सम्बन्धों का साहित्य है।" डॉ० घनश्याम मधुप : 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० ८८।

२. द्रष्टव्य : " इनके ( रमेश बक्षी के ) प्राय: सभी उपन्यास व्यक्ति-चेतना के दम्भ से रचे गए हैं और प्रयोगधर्मिता की इनमें एक अहंवादी मुद्रा फलकती है।" डा० अतुलवीर अरोड़ा : परिशोध-क्रमांक, १७ : १९७२ : पृ० ।

३. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : डॉ० घनश्याम मधुप : पृ० ८७।

४. 'हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास' : डॉ० धनराज मानधाने : पृ० २५३।

डा० मानधाने के अनुसार " नयी पीढ़ी के जलते हुए हस्ताक्षर रमेश बक्षी का यह उपन्यास ( बैसाखियों वाली इमारत ) लंगडे सम्बन्ध, घिनौने प्रेम और आत्मभोगी चिन्तन के गाल पर भरी सड़क पर एक तमाचा है। एक बदतमीज़ पत्रकार, एक नालायक पत्नी, एक चरित्रहीन प्रशंसिका और एक बेगैरत प्रेमिका के चार स्तम्भों पर इस इमारत की कैंचियां ऊपर उठी हैं। प्रेम के चतुष्कोणी रूप को बक्षी की कलम ने नये परिवेश में नये सन्दर्भों के साथ आधुनिक युगबोध के आवरण में प्रस्तुत किया है।"[1]

उपन्यास के चारों पात्र -- अनामी नायक, उसकी पत्नी, हिन्दी-साहित्य की प्रोफेसर मिस जायसवाल तथा एक्स्ट्रैक्ट पैंटिंग की चित्रकार मिस वसुधा --अहं की बैसाखियों पर खड़े हैं। उनका जीवन धुरीहीन है अत: अनिवार्यत: उनकी परिणति भटकाव में होनी थी और उपन्यास में यह हुआ है।

पश्चिमी समाज में नित्यप्रति बढ़ती इस अहं की भावना से स्त्री-पुरुषों और बच्चों का जीवन विषाक्त हो रहा है और विष के यह कीटाणु शनैः शनैः हमारे देश के शिक्षित समाज में भी फैल रहे हैं। अहं का प्राधान्य व्यक्ति को नितान्त आत्मकेन्द्रित बना देता है, अत: वह कभी किसी से समझौता नहीं कर सकता। प्रस्तुत उपन्यास के चारों पात्र भी समझौता नहीं कर सकने के कारण अन्ततोगत्वा बिखर जाते हैं और अहंरूपी बैसाखियों पर खड़ी उनके व्यक्तित्वों की इमारतें ढह जाती हैं।

बक्षीजी के कथनानुसार इसके नायक का व्यक्तित्व 'एण्टीलव' से बना है[2], अत: वह पत्नी, प्रशंसिका और प्रेमिकामें से किसी को भी सही रूप में चाह नहीं सकता। उसके अनुसार प्रेम 'महज दिमागी विलास', 'जीभ पर उगा कैंसर'[3], बेहद गरम देश में जमाई गई आइस्क्रीम'[4] या 'चुइंग गम'[5] है। उसका दृष्टिकोण शत-प्रतिशत भौतिकवादी है। वैवाहिक जीवन की अपेक्षा वह चाहता है कि " किसी वैश्या से सम्बन्ध रखा जाय। महीने पखवारे में गये मेहमान की तरह सलाम-मुजरे में डूबे रहे और घर जाकर आराम की नींद सोये।"[6] वह प्रेम की अपेक्षा जूते चप्पलों को ज्यादा महत्वपूर्ण समझता है क्योंकि वह पहना-ओढ़ा नहीं जाता। उसकी

---

१. 'हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास' : पृ० २५० । २. 'बैसाखियोंवाली इमारतें' : पृ० २० । ३. वही : पृ० २ । ४. वही : पृ० २४ । ५. वही : पृ० ३१ । ६. वही : पृ० १०३ ।

पत्नी भी प्रेम के घटिया, फूहड़ और बनावटी तरीकों से ही परिचित है अत: रात-दिन वह अपने दुर्भाग्य पर आंसू बहाती रहती है। सुहाग रात से ही दोनों एक मंतर से एक-दूसरे को नफ़रत करते थे अत: आखिरकार उसकी पत्नी इस ज़िन्दगी से ऊबकर घर छोड़ जाने का निर्णय कर लेती है। पत्नी के इस निश्चय से पहले तो प्रसन्न होता है परन्तु बाद में कमजोर हो जाता है या उसके भीतर का पशु प्रबल हो उठता है कि जाने से पहले प्यार-मोहब्बत का नाटक रचाकर एक बार उसे पूर्णतया भोगने की ललक उसमें पैदा होती है। परन्तु उसकी पत्नी में कदाचित् उसके प्रति घृणा एवं निजी अहं इतना प्रबल है कि वह प्यार, दुलार और खुशनुमा यादें लेकर नहीं अपितु नफ़रतभरी यादें लेकर जाना चाहती है। वह कहती है : "मैं जाते-जाते एक असंतुष्ट और जलती हुई रात को इस घर में छोड़ ही जाऊंगी और वैसी ही याद साथ में भी ले जाऊंगी।"[1] इससे पत्रकार का अहं अपने पुरुषत्व का अपमान होते हुए देख वहशी हो उठता है और वह उसके साथ बलात्कार करने पर उतारू हो जाता है। परन्तु उसकी पत्नी नाखून और दांत के हथियारों से उसे परास्त कर देती है और उसके झूठे अहं को एक करारी चोट पहुंचाकर सदा के लिए चली जाती है।

उपन्यास के नायक को दूसरी मारक ठेस पहुंचानेवाली नारी है - मिस जायसवाल, जो एक कालेज में हिन्दी की प्रोफेसर है। 'वान बाहेम' की पिकासो टाईप की कला पर टिप्पणी करते हुए पत्रकार से मिस जायस की मुलाकात ललित कला अकादमी में हुई थी। दोनों के विचार परस्पर मिलते थे। जूड़े में अजन्ता और होठों पर कमलों का तालाब खिलाने वाली जायस पानसुपारी की तरह अपने शरीर को पेश कर 'बोल्डनेस' का दम भरती है। बैचलरों की अपेक्षा वह विवाहित लोगों को ज्यादा पसन्द करती है।[2] इस भावना के पीछे उसकी 'सैडिस्ट' प्रकृति भी काम करती है। दूसरों के दाम्पत्य जीवन में आग लगाने से कदाचित् उसकी इस प्रकृति को सन्तोष-लाभ होता है। स्वयं अविवाहित होने से ~~विवाहिता~~ विवाहित स्त्रियों के प्रति उसकी ईर्ष्या सहज है। अत: उसकी यह 'सैडिस्ट' प्रकृति भी 'फस्ट्रेशन' का ही परिणाम है।

---

१. 'बैसाखियोंवाली इमारतें' : पृ० १०८। २. देखिए : "ये कुंवारे लोग बड़े बकवास होते हैं। प्यार इन पर अफीम की गोली का-सा असर करता है और असल में होता है वह चाकलेट। वे ज्यादा कुछ करेंगे तो नोच-खसोट लेंगे ... मेरे मन में उन सब के प्रति एक डिसलाइक है। उनसे दोस्ती करने का मतलब है अपना वक्त जाया करना।" : 'बैसाखियोंवाली इमारतें' : पृ० ६४।

प्रकृति-साम्य की दृष्टि से तो पत्रकार और जायस में मित्रता व घनिष्ठता बढ़नी चाहिए। परन्तु पत्रकार चाहे जितना नये विचारों का दम भरता हो, मध्ययुगीन और मध्यवर्गीय संस्कारों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाया है। अत: जहां पुराने संस्कारों के प्रति अनास्था उसे पत्नी से विलगाती है वहां नये संस्कारों के प्रति अनास्था उसे जायस से भी दूर कर देती है। अपने अहं की तुष्टि के लिए जब वह जायस को घर से निकाल देता है तब वह भी उसे 'इमोशनल कुत्ते' की उपाधि देकर उसकी ज़िन्दगी से हमेशा के लिए चली जाती है।

उपन्यास के नायक को आखिरी करारा तमाचा रशीद करनेवाली तीसरी नारी है वसुधा। कालेज कला प्रदर्शिनी पर वसुधा के परिचय से वह इतना प्रभावित होता है कि 'वसुधा टु लीड द कमिंग जनरेशन आफ एब्स्ट्रैक्ट पेंटिंग'[१] जैसे अखबारी शीर्षक के अन्तर्गत उसकी तारीफ़ के पुल बांध देता है। वसुधा के कलाकार का अहं इससे पोषित होता है। अत: वह उससे और भी निकट आती है। परन्तु इस प्रशंसा के एवज में जब पत्रकार उससे जातीय सुख देने की बात करता है, तब समर्पण के पूर्व वह विवाह का प्रस्ताव रखती है। विवाह को 'किसी बेवकूफ़ द्वारा बनाये गये संविधान पर स्वीकृति के हस्ताक्षर' माननेवाला पत्रकार भला इस प्रस्ताव को कैसे स्वीकार कर सकता है। अत: वसुधा भी उससे मुंह मोड़ लेती है। यह आखिरी प्रहार उसे भीतर से तोड़ देता है और वह दार्जिलिंग की ओर पलायन कर जाता है।

अस्तु, वर्माजी के इस उपन्यास में कुण्ठाओं से मुक्त होने के लिए परम्पराओं और नैतिक मूल्यों के दायरों को तोड़ने के प्रयत्न में पात्रों का और भी गहन कुण्ठाओं में धंसते जाने की भयावहता का चित्रण हुआ है। पश्चिमी समाज एवं उसकी मान्यताओं की अन्ध अनुकरण के भयानक परिणामों को इसमें संकेतित किया गया है। एक तरह से यह स्वार्थमयी कामवृत्ति की असफलता भरी कथा है। इसमें व्यक्तित्वों के टकराव के तीन चरित्र-युग्म प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें नायक 'कामन' है। सूक्ष्म दृष्टि से जहां इसमें नये-पुराने संस्कारों की टकराहट है, वहां बाह्य दृष्टि से देखा जाय तो नये और नये मूल्यों की टकराहट का दंश भी है। यह आज के इस त्रिशंकु युग की कथा है, जिसमें पुराने मूल्य पूरी तरह से टूट नहीं पाये हैं और नवीन मूल्य पनप नहीं पा रहे हैं। संक्षेप में वस्तु, शिल्प एवं भाषा के नये आयामों से उपन्यास रोचक बन पड़ा है।

१.- बेसिरियों वाली इमारतें : पृ० ७६

## अठारह सूरज के पौधे ( १९६५ )

महाभारत का युद्ध अठारह दिन चला था । अनेक यन्त्रणाओं से अटा-पड़ा हमारा आधुनिक जीवन भी किसी कुरुक्षेत्र से कम नहीं है । प्रस्तुत उपन्यास में बम्बई की 'फास्ट और डबल फास्ट' जिन्दगी तथा अपने जीवन की विसंगतियों से संत्रस्त व्यक्ति की अठारह दिनों की पलायनमुखी मन:स्थिति की अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण कथा है जिसे पठानकोट से बम्बई वी० टी० की यात्रा के दौरान फ्लेश बैक शैली में कहा गया है । प्रारम्भिक वक्तव्य में लेखक ने यह स्वयं की ही ~~कथन~~ कथा होने का संकेत दिया है।[1]

उपन्यास का नायक रेलवे का एक साधारण कर्मचारी है । उसके पिता ( अण्णा ) भी पहले रेलवे में थे, परन्तु किसी दुर्घटना में उनकी टांगें कट गयीं । बाद में कुछ वर्षों बाद उसकी मां ( अक्का ) का भी देहान्त हो गया । अण्णा भुसावल चले गये । नायक में कई स्वप्न कुलबुलाते थे, पर पिता की कटी हुई टांगों ने मानो उसके भी हाथ काट डाले और विवश होकर उसे रेलवे की नौकरी में लगना पड़ा । उसके स्वप्न-सरगम के सुर रेलवे की 'कुक्कुक्कुक्' में खो गये जिसमें भूत-भविष्य-वर्तमान एक जैसे हैं, 'गिव, गेव, गिवन नहीं पर पुट-पुट-पुट जैसा'।[2]

बम्बई में वह किराये की खाट पर रहता है । वैसे उसकी दिनचर्या का अधिकांश अंश रेलवे में ही बीतता है -- खाना, पीना, सोना, नहाना, कुदरती हाजत आदि सभी ।[3] कई बार जीवन की छोटी-मोटी असुविधाएं भी हमारे जीवन का अंग बन जाती हैं । उपन्यास के नायक के साथ भी यही घटित होता है । उपन्यास का नायक रेलवे से सम्बद्ध होने के कारण उपयुक्त वातावरण के निर्माण के लिए रेलवे की शब्दावली का साभिप्राय प्रयोग लेखक ने किया है, यहां तक कि

---

१. देखिए : 'हां, बाद में तो मेरा ही विकास रमेश बक्षी के रूप में हुआ है । यह एक ऐसी व्यक्तिगत बात है जिसे नहीं जानने से यह उपन्यास कमजोर लगेगा ।' : प्रारम्भिक वक्तव्य : 'अठारह सूरज के पौधे' ।

२. वही : पृ० २८ ।

३. देखिए : 'सवेरे पांच बजे से फिफ्टी-फर्स्ट डाउन में नित्यकर्म और नहाना, कल्याण से वी० टी० तक । सवेरे सात बजे ट्वेन्टी-सेवन अप में चाय और नाश्ता, वी० टी०

( शेष अगले पृष्ठ पर )

रेलवे कर्मचारियों द्वारा खेले जाने वाले नाटक में पात्रों के नाम तक ट्रेनों के अनुसार हैं[1]।

नायक के इस उबाउ जीवन में कुछ परिवर्तन तब आता है जब वह उपन्यास की नायिका के परिचय में आता है। वह परिचय अकस्मात ही हो गया था। उसने उसे चालू ट्रेन से चढ़ने में सहायता पहुंचायी थी। बाद में दोनों के टिफिन बदल गये थे। इसी बहाने फिर एक बार मुलाकात होती है। परिचय प्रणय में बदलता है। उसके साथ जब वह पूना में उसके परिवार को मिलता है, तब उसे ज्ञात होता है कि उस समूचे परिवार का आर्थिक दायित्व उसी पर है और जब तक उसके भाई पढ़-लिखकर कुछ कमाने योग्य नहीं हो जाते तब तक वह अविवाहित ही रहेगी। इस घटना के बाद उसका सम्मान उसकी दृष्टि में और भी बढ़ जाता है और कुछ वर्षों तक उसके लिए प्रतीक्षा करने के लिए वह मनसे तैयार भी हो जाता है। परन्तु तभी उसे अण्णा की बीमारी का तार मिलता है। वस्तुत: वह तार उसे बुलाने के लिए था। अण्णा के आगे उसकी एक नहीं चलती और उसका विवाह गांव के किसी ज़मींदार की अनपढ़ी लड़की से हो जाता है जिसका परिचय गांव, खेतों, भैंसों और गोबर के अतिरिक्त किसी चीज़ से नहीं था। रुचि, शिक्षा, संस्कार किसी भी लिहाज़ से दोनों में मेल नहीं है। नायक का यह कथन अत्यन्त मार्मिक है कि "अण्णा ने मुझे रेल बना दिया, ये मुझे भैंस बनाने पर तुले हुए हैं।[2] अण्णा न केवल उसका

---

(पिछले पृष्ठ से) से कल्याण तक। बारह बजे सिक्स डाउन में खाना, कल्याण से वी० टी० तक। फिर शाम तक इस-उस गाड़ी की अनलोडिंग एण्ट्री क्नाक ब्रीज पर। शाम आठ बजे वन अप में रात का खाना, वी० टी० से कल्याण तक। रात दस बजे से सुबह तक सोना फिफ्टी-सेवन अप में, कल्याण से भुसावल तक। फिर पैसेन्जर से लौटना।" : अठारह सूरज के पौधे : पृ० २१।

१. देखिए : "अनलोडिंगवालों ने सोचा कि हम भी एक नाटक करें। मैंने नाटक लिखा है।... एक होटल है, आठ कुर्सियां और चार टेबिल। चार मर्द -- एक पठान, एक सिक्ख, एक बंगाली और एक सीमान्त प्रदेश का रहनेवाला। चार औरतें -- एक मद्रासिन, एक कास्मोपालिटन, एक गुजरातन और एक उत्तर प्रदेशीय।... होटल का मालिक जनतासिंग।... अब इस नाटक को कोई आउटसाइडर भला कैसे समझे ? ... मर्द हैं पठानकोट एक्सप्रेस, पंजाब मेल, हावड़ा मेल और फ्रन्टीयर मेल। औरतें हैं -- जी० टी०, डेक्कन क्वीन, फ्लाइंग रानी, और वाराणसी एक्सप्रेस। होटल के मालिक जनता एक्सप्रेस।" : वही : पृ० ३७-३८। २. वही : पृ० १९८।

विवाह करा देते हैं, बल्कि जीवन में व्यवस्था लाने के लिए बम्बई में उसके रहने की व्यवस्था भी करा देते हैं। परन्तु यह व्यवस्था उसे बहुत महंगी पड़ती है।

प्रियतमा को मिल नहीं सकता, पत्नी से जुड़ नहीं सकता। ऐसे में पत्नी के फूहड़ मज़ाक, व्यंग्य और भाऊ से उसका अधिक जुड़ते जाना उसे विक्षिप्त-सा कर देते हैं और एक दिन वह चलती गाड़ी से धक्का देकर भाऊ को गिरा देता है। इसमें भाऊ बच तो जाता है, पर हमेशा के लिए पागल हो जाता है। इस अपराध-बोध को ढोना नायक के लिए असह्य-सा हो जाता है और वह अचानक पठानकोट की लम्बी यात्रा के लिए किसी को कहे-सुने बिना चल पड़ता है। वहां इधर-उधर के भटकाव तथा सस्ती वेश्याओं के संग उसके कुछ दिन तो गुज़र जाते हैं, परन्तु एक दिन वह किसी रूपजीवी ~~को~~- के नग्न शरीर को प्रकाश में देखना चाहता है। वहां वह जो देखता है उसे झेल पाना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है और अन्तत: वहां से भी वह भागता है।

वापस आने पर उसकी भेंट ससुर से होती है, जो भैंसों को लिए हुए आ रहे थे। उसे न केवल भैंसों से, बल्कि भैंसों की बात से भी मतली आती है। उन्होंने उसके तथा उसके भावी बच्चों के भविष्य के सपने जो भैंसों से होनेवाली आमदनी के माध्यम से बुने थे, उसे सुनकर उसे चक्कर से आते हैं। दूसरे दिन वह उस लड़की से मिलता है। अपनी स्थिति की कैफियत देता है। जाली की आलमारी पर रखा एक फोटो धीरे से उलट दिया जाता है और वह उसे दूसरे दिन कुरला पर मिलने का वादा ~~करके~~ करती है। गलती से नायक उस ट्रेन में चढ़ बैठता है जो उस स्टेशन पर रुकती नहीं है। वहां से गाड़ी तेजी से गुज़र जाती है और वह देखता ही रह जाता है। एक बार सारी घटनाएं उसके स्मृति-पटल पर कौंध जाती हैं।

उपन्यास का अन्त अस्पष्ट और एकाधिक सम्भावनाओं से भरा हुआ ~~ह~~ है। ऊपर वर्णित समूची कथा सिलसिलेवार नहीं आती। पठानकोट से वी०टी० की यात्रा के दौरान फ्लैश बैक के सहारे वह अनेक टुकड़ों में बंटकर आती है जिन्हें जोड़ना सामान्य पाठकों के बूते के से बाहर है। हर बात को प्रयोग का रूप देने की धुन ने उपन्यास को कुछ जटिल तथा बोझिल भी बना दिया है। तथापि संवेदना की तीव्रता एवं सघनता तथा अभिव्यक्ति की सांकेतिकता जैसे लघु-उपन्यास के वांछनीय गुण इस कृति में विद्यमान हैं जो उसे वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। बाद में इसी का शीर्षक अवतार कौल ने '२७ डाउन' रखा था, जिस पर फिल्म भी बन चुकी है।

## पचपन खम्भे लाल दीवारें ( १९६१ )

अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० की उपाधि प्राप्त सुश्री उषा प्रियंवदा अमरीका के इण्डियाना विश्वविद्यालय में आधुनिक अमरीकी साहित्य पर अनुसन्धान करके सम्प्रति वहां ही विस्कांसिन विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य कर रही हैं। अमरीका में रहकर अमरीकी साहित्य पर शोधपूर्ण अध्ययन एवं अध्यापन के कारण उनका जीवनानुभव विस्तृत कहा जा सकता है। प्राय: पाश्चात्य देशों के प्रवाहों से प्रत्यक्ष भी उन्हें प्राप्त हुआ है। इस व्यापक अनुभव का मर्म परिचय उनके लेखन से हुए बिना नहीं रहता। आधुनिक कथा-लेखिकाओं में उषा जी की गणना अग्रिम पंक्ति में होती है। उनके साहित्य में आधुनिक जीवन की ऊब छटपटाहट, संत्रास, अस्तित्व-बोध एवं अकेलेपन की भावना को प्रमुख स्वर मिला है।

हमेशा से नारी का किसी न किसी रूप में शोषण हुआ है। प्रत्येक युग में तदर्थ नये-नये शस्त्रास्त्रों को आविष्कृत किया गया है तथा प्रत्येक बार उसकी नोंक अधिकाधिक पैनी व तेज़ हुई है। आज की परिवर्तित परिस्थितियों तथा बदलते जीवन-मूल्यों में नारी भी आर्थिक विषमताओं की विभीषिकाओं में अभिशप्त जीवन व्यतीत कर रही है। अब उसके आर्थिक शोषण का भी प्रारम्भ हो गया है। प्रस्तुत उपन्यास नारी-जीवन के इन परिवर्तित आयामों की करुण अभिव्यक्ति है। आधुनिक जीवन की यह एक बड़ी विडम्बना है कि जो हम नहीं चाहते वही करने को विवश हैं। उपन्यास की नायिका सुषमा भी इसी विडम्बना की शिकार है।

आधुनिक शिक्षित नारी अब आर्थिक दृष्टि से पिता, पति या भाई पर निर्भर नहीं है, बल्कि कई बार परिवार में ज्येष्ठ पुत्र के न रहने पर उसे ही अपने परिवार का बोझ उठाना पड़ता है। उम्र का एक दौर तो यौवन-सुलभ आदर्शवादी भावुकता में गुजर जाता है: परन्तु माता-पिता के काल-कवलित हो जाने पर, साथी संगियों के आगे निकल जाने पर, भाई-भाभी के साथ 'एडजस्ट' न हो पाने पर निर्मम एकाकीपन का अजगर समूचे अस्तित्व को निगलने लगता है। अंग्रेजी में कहा गया है: Man wants continuity अर्थात् मनुष्य सातत्य चाहता है। हम अपनी वृद्धावस्था में अपने युवा- पुत्र-पुत्रियों, पोता-पोतियों या नातियों में अपने मन को रमा लेते हैं। परन्तु वह नारी जो किसी भी कारण से अविवाहित रह

गई है अपनी उत्तरावस्था में घुटन, पीड़ा एवं संत्रास की अंधेरी अन्तहीन सुरंग से गुज़रती है। वह महज़ एक 'क्रॉटन का पौधा' बनकर रह जाती है। शनैः शनैः उसके भीतर की स्निग्धता, कोमलता, सरसता सूखने लगती है और उस रिक्त स्थान में भरने भरने लगती है कर्कशता, कटुता, कठोरता।

'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की संस्कृत की लेक्चरर मिस शास्त्री उसका उदाहरण है। "संस्कृत-साहित्य के सम्पर्क से उनमें रस के प्रति रूचि तो थी, पर उस रसोपलब्धि का साधन न पा वह जीवन और संसार के प्रति कटु होती जा रही थी।"[1] सुषमा अभी इस स्थिति तक नहीं पहुंची है, पर टूटने की शुरुआत हो गयी है। वह अपने भयंकर भविष्य की परछाइयों को भांप चुकी है। अपनी सहेली मीनाक्षी से वह कहती है --" पैंतालीस साल की आयु में मैं भी एक कुत्ता या बिल्ली पाल लूंगी -- उसे सीने से लगा रखूंगी.... आज से सोलह साल बाद शायद तुम अपनी बेटी को लेकर इस कालेज़ में आओ, तबभी तुम मुझे यहीं पाओगी। कालेज़ के पचपन खम्भों की तरह स्थिर, अचल..."[2]

उपन्यास का प्रारम्भ पूर्व-दीप्ति शैली (Flash-back style) में होता है। सुषमा को लगता है कि नील उसके सिरहाने खड़ा है। वह चौंककर उठ बैठती है और शुरू होता है अतीत की स्मृतियों का सिलसिला। सुषमा के पिता एक मध्यवर्गीय नौकरी पेशा व्यक्ति थे। चाहते तो सुषमा की शादी कहीं करा सकते थे, किन्तु सुषमा पढ़ने में असाधारणरूप से तेज़ थी और उसके पिता के अन्तर्मन में कहीं यह बात ज़रूर रही होगी कि तीन वर्ष बाद वही उनके परिवार का सहारा बन सकती है। उसकी कृष्णा मौसी उसे जब-तब सावधान करती रहती है। पर फिर सुषमा ही जीवन से समझौता करके अपनी निर्मम नियति को मन ही मन स्वीकार कर लेती है क्योंकि तब तक में उसके पिता पक्षाघात के शिकार हो जाते हैं और मां दो बहनें तथा भाई के साथ पूरे परिवार की जिम्मेदारी उस पर आ जाती है। वह लड़कियों की कालेज़ में इतिहास की व्याख्याता और साथ ही साथ कालेज़ हास्टेल की वार्डन बन जाती है।

एक बार नील उसकी हास्टेल में उसकी मौसी द्वारा भेजी हुई साड़ियां पहुंचाने आता है। सुषमा के जीवन का करुण अध्याय यहां से प्रारम्भ

---

१. 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' : उषा प्रियंवदा : पृ० ७। २. वही : पृ० १०६-१०।

होता है। नील के साथ का परिचय प्रणय में परिणत होता है। प्रारम्भ में सुषमा कुछ खिंचती है पर फिर अनायास उस मोहक-मादक बहाव में बहने लगती है। मिस पुरी तथा मिस शास्त्री उसकी बदनामी करने में किसी प्रकार की कमी नहीं बरततीं। कालेज, हास्टेल सभी जगह बस उसकी ही चर्चा चलने लगती है। सुषमा की सहेली मीनाक्षी उसे चेतावनी देती है, परन्तु व्यर्थ। जब उसके सामने उसके व्यवसाय के अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित होता है तभी वह उसके सुहाने स्वप्न से बाहर निकलती है। नील भी अपनी उस एक मात्र प्रियतमा को अत्यन्त चाहने लगा था। ~~एक~~ एक बार तो तो वह सुषमा के परिवार के आर्थिक बोझ को भी सहर्ष उठाने के लिए तैयार हो जाता है पर शायद सुषमा का स्वाभिमान उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर पाता। सुषमा को समझाने की नील की सारी कोशिशें जब असफल होती हैं तब वह झल्लाकर कहता है -- 'ठीक है, तुम यहीं रहो, इन पचपन खम्भों में बन्दी होकर। मैं तुम्हारे बहकावे में आ गया था। मैं सोचने लगा था कि तुम्हारे लिए मैं ही सबकुछ बन गया हूं। मैंने अब जाना कि तुम्हारे पास खूबसूरत चेहरे के अलावा एक बहुत व्यावहारिक बुद्धि और अपना भला समझनेवाला दिमाग भी है।'[1]

नील के विदेश चले जाने पर सुषमा को सर्वग्रासी अन्धकार ने ग्रस लिया। वह टूट गयी। वह महसूस करने लगी -- 'नील के बगैर मैं कुछ भी नहीं हूं, केवल एक छाया, एक खोये हुए स्वर की प्रतिध्वनि : और अब ऐसी ही रहूंगी, मन की वीरानियों में भटकती हुई।'[2] इस समय की सुषमा की एकान्त अनुभूतियों को लेखिका ने उपन्यास में ही एक कविता के द्वारा भलीभांति रूपायित किया है।[3]

सुषमा और नील के प्रेम की समाप्ति कुछ लोगों को अकारण, अत: अस्वाभाविक या आदर्शवादी लगती है। डा० घनश्याम मधुप के शब्दों में उषा प्रियंवदा रचनाकार 'नितान्त आधुनिक होते हुए भी पुरातन पन्थी हैं। कथ्य की दृष्टि से उनकी कथा-कृतियां प्रेमचन्द-युग से आगे नहीं कही जा सकतीं..... वे मूलत: भारतीय होने के कारण कथा के अन्त में एक कृत्रिम आदर्शवाद को स्वीकारती हैं।'[4]

---

१. 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' : पृ० ११५। २. वही : पृ० १२३। ३. वही : पृ० १०८। ४. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० १७७।

परन्तु सुषमा की स्थिति हमारे मध्यवर्गीय समाज का आकलन-मात्र है। आज भी समाज में सुषमा जैसी अनेक नारियां मिलती है ( छोटे शहरों तथा कस्बों में ) जो परिवार-प्रतिबद्धता में अपने वैयक्तिक सुख का बलिदान दे देती है। तो क्या अधिक 'फारवर्ड' कहलाने के लोभ में लेखिका का वैसा करना योग्य होता ? और तब क्या समाज के यथार्थ की रक्षा हो पाती ? जब समाज में ऐसी नारियां मिलती हैं, तो उपन्यास में आयेंगी ही : इसमें प्रेमचन्द-युग से आगे-पीछे जाने का सवाल ही कहां आता है ? वस्तुत: उपन्यास में जो स्थितियां अंकित हुई हैं उनमें सुषमा के लिए कदाचित् अन्य कोई विकल्प नहीं है। नील से विवाह करके वह नौकरी में रह सकती थी, पर यह बात उसके जैसे आधुनिक व शिक्षिता नारी के स्वाभिमान के प्रतिकूल जाती। अत: सुषमा की परिणति कोई आदर्शवादी दृष्टि न होकर यथार्थ-वादी जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। उषाजी के नारी-पात्र अन्त में उनके संस्कारों के कारण ही सही, पर आकुल भावुकता के स्थान पर विवेक का ही वरण करते हैं क्योंकि आज भी छोटे शहरों, कस्बों तथा गांवों में पश्चिम का व्यक्ति-वादी दर्शन उतना विकसित नहीं हुआ है। कुंवर नारायण के मतानुसार "किसी भी स्तर पर जीते हुए वे ( उषाजी के नारी पात्र ) विवेक के तरफ़दार हैं, मानो लेखिका इस तथ्य के प्रति बराबर सचेत है कि विकासशील जीवन-मूल्य मनुष्य की इच्छा-क्षमता से अधिक उसकी चिन्तन-क्षमता पर निर्भर करते हैं।"[1]

असावधानी के कारण उपन्यास में कुछ सामान्य गलतियां रह गयी हैं। लेखिका ने सुषमा को पृ० ३३ पर हिन्दी की टीचर तथा पृ० ६६ पर इतिहास की व्याख्याता बताया है। उसी प्रकार पृ० ३३ पर उसकी आयु सत्ताईस वर्ष और पृ० ६० पर तैंतीस वर्ष की बतायी है जबकि कथावस्तु में उतने वर्षों का अन्तराल नहीं बताया गया है।

तथापि इतना तो असंदिग्धरूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास मध्यवर्गीय समाज के यथार्थ और उसमें नव-विकसित जीवन-मूल्यों की सशक्त अभि-व्यक्ति को उजागर करता है। नवीन परिस्थितियों से निर्मित स्थितियों में जाने-अनजाने नारी को जो भीतर ही भीतर घुटना पड़ता है, उसकी अन्तर्व्यथा का बड़ा सूक्ष्म व मार्मिक चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में उपलब्ध होता है। 'त्यागपत्र' की मृणाल की घुटन जहां पुराने मूल्यों के कारण है, वहां सुषमा की घुटन नवीन-मूल्यों का परिणाम है।

१. विवेक के रंग : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी : पृ० ३७८।

## एकांगी नहीं,.... राधिका ? (१९६७)

उषा जी ने जहां पूर्ववर्ती उपन्यास में निम्न-मध्य वर्ग को लिया है, वहां इस उपन्यास में उच्च-मध्य वर्ग को उपस्थित किया है। अनुभूति की ईमानदारी का यह तकाजा भी है कि लेखक प्रथमत: अपने निकटवर्ती समाज के पात्रों की चरित्र-सृष्टि करे। उषा जी के उपन्यासों की यह विशेषता और साथ ही सीमा भी है।

अस्तित्व-बोध एवं आधुनिक जीवन के कुछ आयाम प्रस्तुत उपन्यास में अधिक निखर कर आये हैं। खण्डित पात्र, खण्डित व्यक्तित्व केवल महाभारतोत्तर पात्रों की ही नियति नहीं[१], प्रत्युत् बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मनुष्यों की भी नियति है। यह आज की महानतम त्रासदी है कि व्यक्ति भीड़ में भी अकेला होता जा रहा है। मनुष्य सिमट रहा है और जीवन-पोषक मानवीय मूल्यों से निरन्तर कटता जा रहा है। इस कटते जाने की प्रक्रिया से उत्पन्न छटपटाहट को आधुनिकों ने अपने अनुभव की कसौटी पर देखा परखा है। प्रस्तुत उपन्यास भी ऐसा ही एक प्रयास है।[२]

राधिका के पिता अंतरराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विद्वान् प्रोफेसर हैं। उसकी मां का स्वर्गवास हो चुका है। भाई अपने व्यवसाय, श्वसुर-गृह से प्राप्त वैभव तथा पत्नी में मग्न है। ऐसी स्थिति में अपने विद्वान् पिता के प्रति राधिका के मन में बद्धत्व-ग्रन्थि ( Fixation) का निर्माण होना अस्वाभाविक नहीं है। वह पिता के अध्ययन-अनुशीलन में सहायिका भी होती है। उस स्थिति में उसकी उस ग्रन्थि में वृद्धि ही होती है। परन्तु तभी एक घटना से वह स्तम्भित हो जाती है। उसके पिता विधा नामक एक सुशिक्षित प्रौढ़ अध्यापिका से दूसरा विवाह

---

१. देखिए : 'टेराकोटा' : पृ० ३। २. द्रष्टव्य : (१) "उसका जीवन एक- निरुद्देश्य यात्रा है, एक लम्बी अन्धकारपूर्ण सुरंग में।" : 'एकांगी नहीं... राधिका ? : पृ० १४४। (२) " ( मुझे सब कुछ परेशान करता है -- राधिका का कथन ) "मेरापरिवार, मेरा परिवेश, मेरे जीवन की अर्थ-हीनता, और मैं स्वयं जो होती जा रही हूं, एक भावना-हीन पुतली-सी।" : वही : पृ० १११। (३) "अक्सर टामस-वुल्फ की एक नावेल का शीर्षक याद आता रहता है। 'तुम घर वापस नहीं जा सकते'। ( आज के त्रिशंकु-जीवन की पीड़ा ) : वही : पृ० ६१।

कर लेते हैं। राधिका के मन में स्थापित आदर्श पिता की इमेज खण्डित होती है, अत: वह अपने आक्रोश की अभिव्यक्ति डैनियल पिटरसन के साथ विदेश भाग जाने के व्यवहार द्वारा करती है। राधिका के मन का विश्लेषण करते हुए डैन एक साथ पर कहता है --"माँ के मरने के बाद तुम्हारा पिता के प्रति लगाव बहुत कुछ एब्नार्मल हो गया। यदि भारतीय परिवेश में तुम्हें प्रारम्भ से ही युवा मित्र बनाने की सुविधा होती तो ऐसा नहीं होता। तब तुम्हें प्रसन्नता होती कि तुम्हारे पिता ने जीवन में फिर सुख पाया।"[१]

इसी कारण से राधिका विद्या के सुशील स्वभाव एवं सन्तुलित व्यवहार के बावजूद उससे खिंची हुई रहती है। विद्या को मानसिक त्रास देने में उसके अन्तर्मन को प्रसन्नता होती है।[२] किन्तु अन्त में विद्या द्वारा नींद की गोलियाँ के खा लेने पर उसे पश्ताचा होता है और वह अनुभव करती है कि अपने पूर्वाग्रहों के कारण उसने कभी विद्या को ठीक से जानने की चेष्टा नहीं की।[३] आधुनिक शिक्षित समाज में पिछली अवस्था में, युवा बेटे-बेटियों के रहते हुए, होनेवाले विवाहों का इधर के कुछ उपन्यासों में उल्लेख मिलता है जिनमें 'स्टेप मदर' का चित्रण परम्परागत रूप में न होकर उसके उजले पक्षों को उद्घाटित करने की चेष्टा हुई है --जैसे, 'मेरे सन्धि पत्र' (सूर्यबाला सिंह) और 'पाषाणयुग' (मालती जोशी)। प्रस्तुत उपन्यास की विद्या भी इन 'विमाताओं' की कोटि में आती है।

अपने पिता को मानसिक आघात देने के लिए राधिका डैन के साथ विदेश तो चली जाती है, पर उनका दाम्पत्य जीवन सुखी, स्थिर व सफल नहीं हो पाया क्योंकि राधिका का डैन के प्रति आकर्षण स्वाभाविक न होकर एब्नार्मल था। एक स्थान पर डैन कहता है --"तुमने कभी, एक क्षण के लिए भी, प्यार नहीं किया। राधिका, तुम मुझ में अपना पिता ढूंढ रही थीं, वही पिता जिसे त्रास देने के लिए तुम मेरे साथ चली आयी थी। पर मैंने तुम्हारे पिता की जगह स्थापित होना नहीं होना चाहा, मैं तो स्वतन्त्र व्यक्तित्व हूं।... और मैं तुम

---

१. 'रुकोगी नहीं,... राधिका?' : पृ० ३३। २. द्रष्टव्य : "रात्रि के उस प्रथम प्रहर में पापा की स्टडी में काम करते हुए राधिका को यह ज्ञान भलीभांति रहता था कि विद्या अपने कमरे में अकेली है। और इससे थोड़ा-सा सुख होता।" : वही : पृ० ३५। ३. वही : पृ० १५१।

मैं अपना खोया यौवन ढूंढ रहा था। अपनी पत्नी को छोड़कर चले जाने की कड़वाहट धोना चाहता था, पर शायद हम दोनों ही सफल नहीं हुए।'[१]

उपन्यास का प्रारम्भ उसमें वर्णित घटनाओं के मध्यबिन्दु है। राधिका के स्वदेशागमन से उसका प्रारम्भ होता है। उसके पितृ-गृह का जीवन, डैन के साथ की विदेश यात्रा, डैन का उसे त्यागना, मनीश का परिचय आदि तथ्य पूर्व-दीप्ति शैली एवं पात्रों के कथोपकथन द्वारा व्यंजित हुए हैं। स्वदेशागमन के पश्चात् राधिका अक्षय के प्रति कुछ फुकती है क्योंकि पश्चिम के जीवन तथा डैन के अनुभव से अब वह स्वच्छन्दी यायावरी 'प्ले बॉय' टाइप के व्यक्तित्वों से घबड़ाती है। जीवन में सुरक्षा और स्थायित्व की प्राप्ति के लिए उसे अक्षय अधिक अनुकूल जान पड़ता है। परन्तु अक्षय जहां एक तरफ उसके मोहक व्यक्तित्व से उसके प्रति आकर्षित है, वहां वह उसके अतीत के प्रति शंकाशील भी है। उसके पुराने संस्कार उच्छिष्ट को स्वीकार करने में हिचक का अनुभव करते हैं। तिस पर राधिका का मनीश के साथ घूमना-फिरना उसके सन्देह को और भी बढ़ा देता है। यही कारण है कि वह कलकत्ता जाकर राधिका को एक प्रकार से भूला देता है। मनीश राधिका को चाहता है। एकाधिक बार वह राधिका के सम्मुख सांकेतिक भाषा में विवाह-प्रस्ताव भी रखता है। खजुराहो जाने से पूर्व वह राधिका को अपने साथ आने के लिए आमन्त्रित करता है। परन्तु राधिका मनीश के व्यक्तित्व से संपूर्णतया प्रभावित होने के पर भी उस पर विश्वास नहीं करती, क्योंकि किसी एक के साथ बंधकर रहना उसकी प्रकृति में नहीं है। विजया, नयनतारा, कारिन जैसी कई लड़कियां उसके जीवन में आयीं और चली गयीं।

विद्या के द्वारा आत्महत्या कर लेने पर राधिका के पिता उसे अपने साथ रहने के लिए कहते हैं, तब कदाचित् उन्हें दूसरा आघात देने के लिए ही वह तत्काल मनीश के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है।[२] उपन्यास का यह अन्त बड़ा ही नाट्यात्मक

---

१. 'एकाकिनी नहीं,... राधिका ?' : पृ० ३८।

२. द्रष्टव्य : "मैंने अपने बारे में कुछ सोचा नहीं है। चाहता हूं, तुम यहां रहो राधिका, पहले की तरह।... 'नहीं पापा, मैं जाना चाहती हूं। मनीश... मेरे एक बन्धु... वह बात बीच में अधूरी रुक गयी।" ?: वही : पृ० १५२।

है। कमरे के अंधेरे में मंडराते जुगनू के प्रतीक द्वारा आशा-निराशा में डूबते-उतराते आधुनिक जीवन की क्षणिकता का संकेत लेखिका ने अन्तिम वाक्य में दे दिया है।

पाश्चात्य जीवन में और उसके अनुकरण पर भारतीय उच्च-वर्गीय जीवन में परिवार का निरन्तर टूटते जाना, भाव-हीनता, भौतिकता एवं बौधिकता में वृद्धि तथा तज्जन्य संत्रास, घुटन व पीड़ा को भोगते जाने का लेखिका ने बड़ा ही सूक्ष्म सूक्ष्म चित्रण किया है।

हमारे देश में एक ऐसा वर्ग है जिसे अपने देह पर की तथा घर की-प्रत्येक-प्रत्येक चीज़ के आयातित होने में, पाश्चात्य-जीवन के सही-गलत सभी बाहरी तौर-तरीकों को अपनाने में तथा अपने वैभव के प्रदर्शन में गर्व का अनुभव होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रदर्शन-वृत्ति लघुता-ग्रन्थि की द्योतक है। वस्तुत: वह हमारे देश के गरीब धनवानों का ओछापन है जिसका लेखिका ने अपनी व्यंजनापूर्ण शैली में मखौल उड़ाया है। राधिका की भाभी प्रारम्भ में राधिका के स्वागत में अति उत्साह से काम लेती है क्योंकि वह राधिका को सभा-सोसायटी में ले जाकर 'फारीन रिटर्न' ननद के अपने अहं की तुष्टि चाहती है।[१] उत्तरी भारत में रहने वाले प्रवीण को हिन्दी बोलने की आदत के छूट जाने का तथा अपने बच्चों को अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य किसी भारतीय भाषा के नहीं आने का मलाल नहीं, गर्व है।[२] विद्या की बहन रमा को इस बात का बड़ा रंज है कि राधिका विदेश से केवल कुछ किताबें, कुछ रंग और कुछ तस्वीरें ही लेकर आयी है... न छाते, न घड़ियां, न लिपस्टिकें, न ट्रान्जिस्टर।[३]

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के मतानुसार 'एकोगी नहीं,.. राधिका ?[४] में लेखिका ने नारी को नयी अर्थवत्ता प्रदान की है। इसकी नायिका राधिका 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा से अपने परिवेशगत संस्कारों के कारण अधिक मुक्त व विद्रोही है। डॉ० घनश्याम मधुप के शब्दों में 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की 'सुषमा' जहां परिवार के उत्तरदायित्वों के बीच पिसती हुई 'नील' को एक तरह से त्याग देती है, वहीं से राधिका की एक यात्रा, जिसे खोज भी कहा जा

---

१. 'एकोगी नहीं,... राधिका ?' : पृ० १३२। २. वही : पृ० १०४-१०५।
३. वही : पृ० ८३-८४। ४. 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां' : पृ० १२५-१२८।

सकता है, प्रारम्भ होती है। यह यात्रा विदेशी पत्रकार डैनियल पीटरसन और अक्षय से होती हुई मनीश पर आकर रुकती है।[1] किन्तु वस्तुत: दोनों की स्थितियां भिन्न हैं। जहां सुषमा पक्षाघात से पीड़ित मध्यवर्गीय पिता की ज्येष्ठ पुत्री होने के कारण अकेलेपन के दंश से पीड़ित है, वहां राधिका अपने उच्च-मध्यवर्गीय संस्कारों से परिचालित होकर उस अकेलेपन को ओढ़ती है। सुषमा के अकेलेपन की पीड़ा में उसका आर्थिक पक्ष प्रबल है, जब कि राधिका में मानसिक पक्ष। वहां घुटन एक विवशता है,तो यहां फैशन। अत: दोनों की पीड़ाओं के स्वरूप में मूलभूत अन्तर है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका ने पात्रों के परस्पर के मनोविश्लेषण द्वारा आधुनिक जीवन में परिव्याप्त जटिलता को पकड़ने का प्रयास किया है। मनीश, डैन तथा विद्या राधिका का सुन्दर मनोविश्लेषण प्रस्तुत करते हैं जिससे राधिका के चरित्र में गुम्फित तानों-बानों को हम सरलता से समझ सकते हैं। मनीश के 'रिवर्स कल्चरल शाक' की बात भी आधुनिक सन्दर्भ में विचारणीय है।[2] संक्षेप में प्रस्तुत उपन्यास आधुनिक जीवन के अनेक नवीन आयामों को सशक्तरूप में उद्घाटित करता है।

## डाक बंगला ( १९६२ )

हिन्दी के इधर के नये सशक्त हस्ताक्षरों में कमलेश्वर का नाम अग्रिम पंक्ति में आता है। वह मूलत: कहानीकार हैं। उनके सभी उपन्यास लघु-उपन्यास की कोटि में आते हैं। उनका प्रथम लघु-उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियां' सर्वप्रथम १९५७ में हंस-१ में प्रकाशित हुआ था, किन्तु पुस्तकाकार में वह १९६१ में ही आया। प्रकाशन की दृष्टि से उनके प्राय: सभी उपन्यास साठ के बाद ही पड़ते हैं। 'डाक बंगला' के अतिरिक्त 'लौटे हुए मुसाफिर' ( १९६३), 'तीसरा आदमी' ( १९६४ ), 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' ( १९६५ ), 'आगामी अतीत' ( १९७६), काली आंधी' ( १९ ) आदि इन के प्रमुख उपन्यास हैं।

---

१. 'हिन्दी लघु उपन्यास' : पृ० ९० ।

२. देखिए : 'रुकोगी नहीं,... राधिका ?' : पृ० १११-११२ ।

कमलेश्वर अपने उपन्यासों में युग-सत्य को सूक्ष्मता एवं सांकेतिकता के साथ निरूपित करने में सिद्धहस्त हैं। सहधर्मी कथाकार राजेन्द्र यादव के शब्दों में "कमलेश्वर अपना सच नहीं बोल सकता, मगर अपने युग और अपनी पीढ़ी का सच वह ज़रूर बोल सकता है, क्योंकि उसके पास ज़ुबान है और उसे बात करनी भी आती है।"[1] आधुनिक संचेतना के वाहक उनके उपन्यासों में जीवन की असंगतियों में ताल-मेल बैठाने की जद्दोजहद में व्यस्त मध्य-वर्ग अपनी सारी शक्ति, कुण्ठा और विषमता के ज़हर को लिए हुए अपने सही रूप में उपस्थित है। डा० घनश्याम मधुप के शब्दों में "वह निर्मल वर्मा तथा आधुनिक कथाकारों की भांति अपने परिवेश से कटकर कृत्रिम आभिजात्य में नहीं जीते। कारीडार, किचन, नाइट-क्लब, और बार की ज़िन्दगी से दूर उनके लघु-उपन्यासों में आम हिन्दुस्तानी की ज़िन्दगी ही दीख पड़ती है। यही कारण है कि कमलेश्वर की कथा-कृतियों में रोटी-रोज़ी, पति-पत्नी का कलह और प्रेम, शंकाएं, आस्था और निराशा आदि सब कुछ अपने यथार्थ रूप में ही आते हैं।"[2]

उनका प्रस्तुत उपन्यास 'डाक बंगला' भी आधुनिक नारी-जीवन की अनेक विसंगतियों को रेखांकित करता है। वासना की उद्दाम लहरों के समुद्र को अपने हृदय में संजोये हुए अनेक नारियां निरन्तर मानसिक व्यभिचार करते हुए भी तथाकथित शारीरिक पवित्रता को बरकरार रख पाती हैं क्योंकि समाज और परिस्थितियों द्वारा प्रदत्त रक्षा का कवच उन्हें हर समय बचाये रखता है। जबकि दूसरी ओर कुछ ऐसी नारियां भी होती हैं जो मनसे किसी एक की होने के बावजूद परिस्थितियां उन्हें अनेक की अंकशायिनी होने के लिए विवश करती हैं। यहां वारांगना और वणिक श्रेष्ठीवधू की एक पुरानी लोक कथा का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। वारांगना मनसे सेठानी ~~का~~- की ज़िन्दगी को तरसती रही। सेठानी वारांगना को कोसती रही, पर उसका अन्तर्मन सदैव वारांगना के यहां आनेवाले युवकों को देखकर वासनामज्जित होता रहा। दोनों की मृत्यु हुई। मृत्यु के उपरान्त वारांगना को स्वर्ग मिला और सेठानी को नरक। यहां कमलेश्वर के भीतर बैठा कथाकार -- धर्म-राज भी परम्परागत नैतिकता एवं पवित्रता का पक्ष न लेकर वैयक्तिक भीतरी नैतिकता का पक्षधर बनता है। इरा आधुनिक काल की एक ऐसी नायिका है जिसके जीवन में चार पुरुष आते हैं -- विमल, बतरा, बूढ़ा डाक्टर और मेजर सोलंकी।

---

१. 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' : पृ० ४२।

२. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० १६१।

परन्तु उसकी आत्मा हमेशा उसके प्रथम प्रेमी विमल को ही तरसती रही। कश्मीर-यात्रा के दौरान लिद्दरवट के बंगले में इरा अपने सहयात्री व अन्तरंग मित्र तिलक को आधी रात के बाद वीरान जंगल में ले जाकर अपनी राम कहानी सुनाती है। उसके जीवन के तीन पुरुषों की कहानी वह तिलक से कहती है। मेजर सोलंकी वाला अध्याय घटित होते हुए दिखाया है।

इरा जिन्दगी और मंजिलों के चलनेवाले चिर-पथिक जिन्दगी है। वह कहती है -- "मेरा पड़ाव कहीं भी नहीं है।... रास्ते में कोई गन्दी चाय की दूकान आ गई तो लोग वहां भी रुककर एक प्याला पी लेते हैं।"[1] उसी प्रकार उसकी जि जिन्दगी में जो भी आया वह उसे सहज रूप से स्वीकारती गई। उसकी जिन्दगी औरों के लिए एक पड़ाव-- एक डाक बंगला -- मात्र बनकर रह गयी।

माँ विहीन इरा पिता के आश्रय में कालेज में प्रवेश पाने तक नाटक लिखती व खेलती रही। उसी सिलसिले में वह विमल से मिली और शिमला में उसे अपना कुंआरा यौवन समर्पित कर दिया। दोनों नाटक के जीव थे। किन्तु विमल अजहद भावुक व शंकाशील था। नाटक की जिन्दगी और स्वयं को चलाने के लिए इरा को मि० बतरा के यहां फोन एटेन्डण्ट की नौकरी करनी पड़ी जो एक प्रकार से उसके जीवन को लील गयी। शंका के ज्वालामुखी में धधकता हुआ विमल बम्बई चला गया और वहां जाली नोटों के सिलसिले में उसे बारह वर्ष की सजा हो गयी।

इरा के जीवन का दूसरा अध्याय बतरा है। वह एक चलता-पुर्जा, हर-फ़न-मौला टाईप का आदमी है। आधुनिक सभ्य एवं उच्च समाज की सामाजिक, नैतिक एवं राजनीतिक भ्रष्टता के कारण ही उसका व्यवसाय चलता है। किसी को परमीट, किसी को कोटा, किसी को लाइसेन्स, दिलाना ही उसका व्यवसाय है और उसके गुरों से वह भलीभांति माहिर है क्योंकि सरकार के उच्च अफ़सरों की नब्ज़ को वह बराबर पहचानता है। बतरा की सज्जनता और निष्कपटता शराब पी चुकने के बाद ही उभरती थी।[2] हरिशंकर परसाई के शब्दों का यहां बरबस स्मरण हो आता है कि कुछ लोग अपने होश में मानवीय हो ही नहीं सकते। उर्दू के एक

---

१. `डाक बंगला` : कमलेश्वर : पृ० २७। २. वही : पृ० ३६-३७।

शेर में कहा गया है ::

अपनी मदहोशी में लब पे तेरा नाम रहता है :
अपने ~~के~~ होश का वादा किसी को कर नहीं सकता ।

बतरा भी उसी प्रकार का व्यक्ति है। शराब की बेहोशी और रात की तनहाई में जब वह मजाज़ की रिकार्ड " शहर की रात और मैं नाशादो ~~नाकारा~~ नाकारा फिरूँ" की धुन पर व्याकुल-सा घूमता है तब आदमी की खूबसूरती को उसकी बेहोशी में देखनेवाली इरा उसे समर्पित हो जाती है। शीला के सम्बन्ध में जानते हुए भी वह उस पर विश्वास कर लेती है और लग्न की सामाजिक सनद लिए बिना ही वह विवाहित जीवन व्यतीत करने लगती है। पहले ज्वार के बाद वह मि० बतरा के वैभव ~~को~~ को चाहने भी लगी थी। पर इरा के भीतर की नारी सेमल के लाल मांसल फूलों से बच्चों के लिए मचलने लगी। बतरा इन बखेड़ों में नहीं पड़ना चाहता था। अत: उसे गर्भ रहने पर टानिक के बहाने दवाई पिलाकर भ्रूण को गिरा देती है। इरा टूट जाती है। बतरा उसे मना लेता है। पर इरा से अब उसका भी मन भर गया था अत: शीला के द्वारा उसे नौकरी से हटा देता है।

जीवन से निराश एवं अपमानित इरा को तब बूढ़े डा० चन्द्रमोहन के यहां पनाह मिलती है। वह उसके दो बच्चों की ही नहीं वरन् उसकी भी गार्जियन बनकर डिब्रूगढ़ चली जाती है। पर विमल और बतरा के उद्दाम जानने-समझने-भोगने वाली इरा बूढ़े डाक्टर से कैसे संतृप्त हो सकती है। वह महज उसकी आग को भड़का जाता है। उसके मुंह के कोनों से आता हुआ झाग उसमें वितृष्णा पैदा करता है। अत: उससे परेशान होकर वह नागपुर अपनी सहेली के पास चली जाती है। इधर डाक्टर को एक दुर्घटना में गोली लगती है। उसके वहां पहुंचने के तुरन्त बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। डाक्टर से घृणा करते हुए भी उसकी अन्तिम अवस्था उसे झकझोर जाती है। वह उसके बच्चों में अपने मन को रमाना चाहती है। पर डा० की बहन उन दोनों को ले जाती है। इरा का वह~~स~~ स्वप्न भी पूरा नहीं हो पाता। डाक्टर उसके लिए पन्द्रह हजार रूपये छोड़ जाता है। विधि की कैसी विचित्रता। जिनको चाहा उन्होंने निराधार बना दिया और जिन्दगीभर जिसको घृणा करती रही उसने उसे एक ठोस आधार प्रदान किया।

कहानी के अन्त में तिलक इरा से अभिभूत होकर उसे स्वीकार ने के लिए उद्यत होता है, पर इरा उसके प्रस्ताव को ठुकरा देती है क्योंकि वह अब

जानने-समझने लगी है कि पुरुष चाहे कैसा भी क्यों न हो वह स्त्री से सदैव यही अपेक्षा रखता है कि वह उसके जीवन में प्रथम हो। आदमी सभ्य होने का चाहे जितना स्वांग भर ले, पर वह अपनी इस आदिम वृत्ति का परित्याग नहीं कर सकता। तिलक और मेजर सोलंकी में से वह मेजर सोलंकी को पसन्द करती है और उसके जीवन का स्वप्न -- सेमल के लाल फूलों का खिलना -- साकार होने लगता है। तब उसे बीमारी की अन्तिम अवस्था में विमल मिलता है। जीवन के अन्तिम पहर में वह उसे निराश नहीं करना चाहती। अत: सोलंकी को बिना बताये वह चली जाती है और अपने हाथों अपने स्वप्नों का -- सेमल के लाल फूलों का -- गला घोंट देती है। विमल पुन: उसे अकेली छोड़कर सदा सदा के लिए चला जाता है।

जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी या दुर्घटना यही है कि हमें हर चीज़, हर सुख मिलता है, पर समय पर नहीं।[१] इरा के जीवन की त्रासदी भी यही है। काश उसे विमल दो या तीन वर्ष बाद मिला होता, काश बतरा की ज़िन्दगी में वह पन्द्रह बरस पहले आ गयी होती, काश डाक्टर से उसकी मुलाकात बीस वर्ष पहले होती या काश तिलक उसे पहले मिलता। तब उसके जीवन को कोई अर्थ मिल पाता। यहां इरा को केवल निरर्थक प्यार ही मिला। उसकी ज़िन्दगी महज एक डाक बंगला बनकर रह गयी।

इरा की कहानी के साथ इस लघु उपन्यास में ऐसा बहुत कुछ है जो हमें बांध लेता है। मध्यवर्गीय समाज की विडम्बना और विसंगतियों का तथा हमारे उच्च समाज के खोखलेपन का अच्छा खाका लेखक ने खींचा है। दु:खों ने इरा को दार्शनिक बना दिया है। अत: उसका प्रत्येक वाक्य कोई सूक्ति जान पड़ता है। तथाकथित उच्च एवं भद्र समाज में होनेवाले सुशिक्षित नारी के नैतिक शोषण के कोणों को इसमें लेखक ने खराद पर चढ़ाकर और भी नुकीला बना दिये हैं। उपन्यास के अन्त में इरा की टूटन को लेखक ने एक ही वाक्य के द्वारा व्यंजित कर दिया है : "चलो भाई सूटकेस, चलें..."[२] संक्षेप में लेखक ने लघु-उपन्यास के अनुकूल सांकेतिकता, संक्षिप्तता, एकसूत्रता एवं प्रतीकात्मकता जैसे गुणों का निर्वाह प्रस्तुत उपन्यास में किया है।

---

१. 'डाक बंगला' : पृ० ११६।

२. वही : पृ० १२४।

तीसरा आदमी ( १९६४ )

शेक्सपीअर का एक वाक्य है : Our doubts are traitors संशय हमेशा प्रवंचक होता है। संशय का कीड़ा हमारे जीवन-वृक्ष को खा जाता है। गुजराती के कथाकार मोहम्मद मांकड ने इसी विषय पर एक उपन्यास व एक कहानी लिखी है। पति-पत्नी के सम्बन्धों में विश्वास का तत्व प्राण के समान है। इसके अभाव में दाम्पत्य की दीवारें ढहने लगती हैं। तीसरा आदमी की कहानी हमारे सामाजिक-जीवन की इसी विषवेल ~~की-कहानी~~ है के भयंकर परिणामों की कहानी है है।

उपन्यास के मुखपृष्ठ पर यह घोषित किया गया है कि "प्रेम अथवा प्रतिद्वन्द्विता के नाते तीसरा आदमी आदिकाल से स्त्री और पुरुष के बीच आता रहा है, लेकिन कमलेश्वर का तीसरा आदमी आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज है।" मैं ( नरेश ), चित्रा और सुमन्त के बीच घूमती हुई यह कहानी अन्य प्रणय-त्रिकोणात्मक कहानियों से भिन्न है। सुमन्त नरेश का दूरदराज का भाई है, अत: चित्रा और सुमन्त में एक स्वाभाविक नैकट्य या मैत्री है। नरेश जब तक इलाहाबाद आकाशवाणी में रहा तब तक तो वहां के परिवेश के कारण उसका अहं संतुष्ट होता रहा, परन्तु दिल्ली में आ जाने के बाद महानगरीय परिवेश के कारण उसका वह अहं टूटने लगता है। दूसरी ओर आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह सुमन्त के साथ एक कमरे में रहने के लिए बाध्य हो जाता है। चाहकर भी वह दिल्ली में अलग नहीं रह सकता। पूर्ण स्वतन्त्रता या पत्नी पर पूर्णाधिकार बिना आत्मनिर्भरता के असम्भव है। आजकी बदली हुई परिस्थितियों में स्त्रियां स्कूलों, कालेजों और दफ्तरों में काम करने लगी हैं और इस प्रकार उनके जीवन में पति के अतिरिक्त एक तीसरे पुरुष का प्रवेश जाने-अनजाने न्यूनाधिक मात्रा में होने लगता है। यह एक अवश्यंभावी परिणाम है। जहां महानगर का व्यक्ति इसके साथ समझदारीपूर्वक का या पुरानी विचारधारा के अनुसार कायरतापूर्ण समझौता कर लेता है : वहां कस्बाई मनोवृत्ति का मध्यवर्गीय पुरुष कुछ खिंचक का अनुभव करता है और उसीमें वह टूटने लगता है। प्रस्तुत उपन्यास में नरेश का टूटना इसी प्रकार का है।

अपने अधिक खुले स्वभाव के कारण सुमन्त चित्रा के अधिक निकट होता जाता है। दूसरे यह एक सामान्य तथ्य है कि जब पति-पत्नी एक ही कमरे में किसी अन्य व्यक्ति के साथ रहते हैं, तब उनमें परस्पर की लाज-शर्म वैसे ही कम हो जाती है। अतः सुमन्त-चित्रा का यह बढ़ता नैकट्य नरेश को काँटे की भाँति चुभता है। आकाशवाणी के काम से जब नरेश को कुछ दिनों के लिए बाहर जाना पड़ता है, तब संशय की यह काली घनी छाया अधिक विस्तृत होकर गहराती जाती है। नरेश, सुमन्त और चित्रा इन तीनों पात्रों की उस समय की मनोदशा का लेखक ने बड़ा ही सूक्ष्म व मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। कपड़ों में दबे पड़े हुए सुमन्त के कमीज को लेकर चित्रा और नरेश दोनों की मानसिक प्रतिक्रिया, चित्रा और सुमन्त दोनों के द्वारा उस बिल्लीवाले प्रसंग को दोहराये जाना जिसमें यह संकेतित किया गया था कि उन दिनों सुमन्त कमरे से बाहर सोया था , आदि से संशय की छाया सुदीर्घ होती जाती है। यहाँ तक कि चित्रा के नक्श भी धीरे धीरे नरेश को सुमन्त जैसे प्रतीत होते लगते हैं। प्रगाढ़ शारीरिक सम्बन्धों के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष के रूपाकारों में यह साम्य उभरने लगता है। यह शायद एक प्रक्रिया है जो अपने आप घटित होती है।[1] चित्रा के आसपास मंडराती सुमन्त की यह छाया नरेश को पागल-सा बना देती है। उसके ही शब्दों में 'रात में... जब मैं चित्रा को अपनी बाहों में लेता तो एक अजनबी गन्ध फूटती थी। वह छाया मंडराती हुई कहीं से आती थी और मुझ से पहले उसकी बाहों को जकड़ लेतीथी.... जब मैं उसकी बाहों पर हाथ रखता तो वहाँ दो हाथ पहले से मौजूद होते थे। वह छाया मुझे चित्रा के पास पहुँचने से रोकती थी... चित्रा की आँखों में जब मैं झाँकता था तो वहाँ चार आँखें झाँकती होती थीं... चार बाहें उसे कस रही होती थीं, चार होंठ उसे प्यार कर रहे होते थे...[2]

संशय का यह भुजंग न केवल नरेश-चित्रा के दाम्पत्य को डंसता है, बल्कि वह सुमन्त के जीवन को भी डंस लेता है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक का उद्देश्य इसी मध्यवर्गीय मनोदशा और संस्कार -- जो आर्थिक अधिक है -- को गहराई से एक हल्की तिक्तता के साथ उभारने का रहा है। 'डाक बंगला' का विमल भी

---

१. देखिए : 'तीसरा आदमी' : कमलेश्वर : पृ० ८२।
२. वही : पृ० ८३।

इन्हीं परिस्थितियों का शिकार था । आजके मध्यवर्गीय परिवार में किसी भी वस्तु पर किसी का पूर्णाधिकार नहीं होता । यहां कपड़े-लत्ते, चप्पल, कमरे सब 'कामन' होते हैं । तो पत्नी पर भी पूर्णाधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है ? वहां पत्नी भी सबकी ज़रूरतों में से एक होती है । परिवार के बीच पत्नी के साथ एकान्त का अभाव खलता है तो परिवार से बाहर पत्नी का किसी अन्य से बढ़ता एकान्त मन और आत्मा पर एक भारी बोझ डाल देता है ।

उक्त दोनों स्थितियों में लेखक ने मानवीय संवेदना का स्पर्श दिया है । प्रथम अभाव टूटती हुई सम्मिलित कुटुम्ब-व्यवस्था के बीच पनपती हुई व्यक्तिवादी चेतना का परिणाम है, तो दूसरी स्थिति की वेदना आर्थिक-विवशता का । परन्तु यह दोनों स्थितियां मध्य-वर्ग से सम्बद्ध हैं । जहां 'प्रश्न और मरीचिका' ( भगवतीचरण वर्मा ), 'अन्धेरे बन्द कमरे' ( मोहन राकेश ), 'सीमाएं टूटती हैं' ( श्री लाल शुक्ल ) जैसे उपन्यासों में दिल्ली के वैभव, ऐश्वर्य एवं उच्चवर्गीय जीवन का चित्रांकन हुआ है : वहां 'तीसरा आदमी' में दिल्ली के निम्न मध्यवर्गीय परिवेश को, छोटे-छोटे कमरों के दड़बों में सड़ती हुई ज़िन्दगी की तस्वीर को पेश किया गया है ।

## आगामी अतीत ( १९७६ )

यह कमलेश्वर का नवीनतम लघु उपन्यास है । हिन्दी उपन्यासों में वेश्या के चरित्र में प्राय: सेवासदन की 'सुमन' को दोहराया जाता है, परन्तु प्रस्तुत उपन्यास की चांदनी में ऐसी कोई पुनरावृत्ति नहीं है । चांदनी न सुमन की प्रतिकृति है, न मृणाल की ( त्यागपत्र ), न मैना ( मुरदा घर ) की : पर उसका कथ्य कुछ हद तक त्यागपत्र को दोहराता है । त्यागपत्र के जस्टिस पी० दयाल और प्रस्तुत उपन्यास के कमल बोस एक ही प्रकार की व्यवस्था के शिकार हैं । समाज द्वारा प्रस्थापित वरीयता की प्राप्ति-हेतु दोनों अपने वर्ग या अपनों से कटकर सामाजिक दृष्टि की सफलता तो प्राप्त कर लेते हैं , परन्तु मृणाल और चन्दा के भविष्य की आहुति देकर ही यह सम्भव हो पाता है और सफलता का नशा जब चूक जाता है, तब सिवाय पश्चाताप और घोर आत्म-ग्लानि के कुछ हाथ नहीं आता । लेखक के ही शब्दों में अतीत का काटा पानी नहीं मांग पाता ।[१]

१. 'आगामी अतीत' : पृ० ५० ।

अत: मृणाल की दयनीय नारकीय अवस्था और मृत्यु के पश्चात् जहां जस्टिस पी० दयाल जजा से इस्तीफा दे देते हैं वहां कमल बोस भी पागलपन की अवस्था में चन्दा की मृत्यु के समाचार पाकर तथा उसकी बेटी चांदनी को कार्सियांग के वेश्यालय में देखकर बेतहाशा टूट जाते हैं। उस नारकीय जीवन से यदि चांदनी लौट पाती तो कमल बोस को कुछ सांत्वना मिलती, पर उनकी भरसक कोशिशों के बावजूद चांदनी उनके साथ नहीं जा पाती क्योंकि उसके ही शब्दों में 'अब... इसमें.. क्या रखा है।'[1] अगर आदमी को अपना अतीत ठीक कर लेने का जरिया मिल जाये, तो बात बहुत आसान हो जाती है,[2] परन्तु जिन्दगी इतनी आसान कहां ? वह तो बड़ा पेचीदा है। कमल बोस और जस्टिस पी० दयाल दोनों अपने अतीत को सुधार नहीं सकते और यही उनकी ट्रेजेडी है। ऊपर से देखने पर कहानी कुछ रोमानी प्रकार की है। कमल बोस एक गरीब मां का इकलौता बेटा है। पर मां 'मारवाड़ी चेरिटेबुल ट्रस्ट' से वज़ीफा दिलाकर उसे डाक्टरी पढ़ाती है। परन्तु यह स्वप्न पूरा हो उसके पहले ही उसका स्वर्गवास हो जाता है। इधर कमल एम० बी० बी० एस० की आखिरी परीक्षा के पूर्व गम्भीर अध्ययन के लिए अपने वतन दार्जिलिंग आता है, जहां 'धनवंतरी औषधालय' के वैद्य दिल बहादुर थापा की सुपुत्री चन्दा से उसका परिचय होता है जो बाद में प्रगाढ़ प्रणय में बदल जाता है। उधर कमल परीक्षा देने गया तो बाद में नहीं लौट सका? क्योंकि डाक्टरी में फर्स्ट आने पर चन्द्रमोहन सेन ने उसे अपनी सुपुत्री निरूपमा के लिए खरीद लिया। अब कमल मानसी कैमिकल्स' का मैनेजर और निरूपमा जैसी सुन्दर पत्नी का बापखरीदा पति हो गया। निरूपमा से उसकी कभी नहीं पटी। पर झूठी शोहरत, इज्जत और सफलता के विचारों ने उसको चिपकाये रखा। निरूपमा के ममेरे भाई रमेन्द्र सेन के मामले में कमल के सख्त रूख को लेकर निरूपमा मात्रा से अधिक नींद की गोलियां लेकर खाकर आत्महत्या कर लेती है। दूसरी ओर चन्दा दो-तीन वर्ष तक तो जिद करती रही पर आखिर पिता की बदनामी और बीमारी से विवश होकर एक अधेड़ लंगड़े हरकारे से विवाह कर लेती है। वैद्यजी की भी मृत्यु हो जाती है। उसी हरकारे से

---

१. 'आगामी अतीत' : पृ० १११।

२. वही : पृ० ३५।

चन्दा को एक पुत्री -- चांदनी भी प्राप्त होती है। वह जंगल में गश्त लगाने जाता था। उसीमें एक जंगली जानवर दबोच लेता है। चन्दा लाश तक खोजने नहीं जाती। उसके बाद वह नीली घाटी के करघाघर में कुछ समय तक काम करती रही और फिर वहां से धौलपुर चली गयी। वह अब अपना पैतृक वैद्यक का व्यवसाय करने लगी। धौलपुर में जब दवाखाना खुल गया तो वह सिलीगुड़ी चली गयी, जहां पागलपन की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी -- पचीस वर्ष पूर्व बाद कमल के वहां पहुंचने के एक वर्ष पूर्व। पागलखाने में चांदनी पर एक खूनी, जो पागलपन का ढोंग रचाए हुए था, बलात्कार करता है जो उसके जीवन की धुरी को ही बदल देता है और वह कार्सियांग में आकर एक वेश्या का जीवन व्यतीत करने लगती है।

कमल से उसकी मुलाकात आकस्मिक ढंग से होती है। कमल उसे सही रास्ते पर लाने का खूब प्रयास करता है, पर अब वह उस जीवन में इतनी आगे बढ़ गयी थी कि सभ्य समाज में रहने की उसे कोई रूचि नहीं रही। आखिर में चांदनी पर कमल का वह राज़ भी प्रकट हो जाता है। फिर भी वह उनके साथ नहीं जाती। वेश्यालय के परिवेश तथा वेश्याओं की भाषा का लेखक ने बड़ा ही सटीक चित्रण किया है।

जहां कमलेश्वर के अन्य उपन्यासों में परिवेश पर खूब ध्यान दिया गया है, यहां स्थानों का कल्पनाप्रसूत परिवेश तो खूब उभरा है पर भौगोलिक परिवेश की लेखकने जान-बूझकर उपेक्षा की है। यह जानते हुए कि दार्जिलिंग में दार्जिलिंग होटल नामकी कोई होटल नहीं है तथा इस प्रदेश में नीली घाटी और धौलपुर जैसे कोई स्थान नहीं है, लेखक ने गलत नामों और स्थानों का प्रयोग किया है। बकौल लेखक के इसमेंरोमाण्टिकता को रोमाण्टिकता से तोड़ने का प्रयास किया गया है। अपनी रोमानी खोल में उसका कथ्य या थीम निहायत यथार्थवादी है। अवतार काम्बो ( देहरादून ) और श्रीमती शमा जैदी ( बम्बई ) के मतानुसार यह क्रमश: एक ` घटिया टाइप ` का और ` किसी चालू हिन्दी फिल्म की कहानी-सा ` [१] निहायत सस्ता उपन्यास है : तो दूसरे कुछ लोगों की दृष्टि में

---

१. हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ निर्देशक गुलजार ने इस उपन्यास पर ` मौसम ` फिल्म को बनाया भी है, जो हिन्दी फिल्मों को देखते हुए निश्चय ही एक ऊंचे स्तर की फिल्म है।

इसमें कमलेश्वर ने नयी ज़मीन को तोड़ा है।[1]

इसका कथ्य आधुनिक युग की इस वर्गीय त्रासदी को उद्घाटित करता है कि आजकी पूंजीवादी व्यवस्था में कोई मध्यवर्गीय प्रतिभासम्पन्न युवक हाथोंहाथ उठा लिया जाता है और वहां स्पर्द्धा के क्षेत्र में पड़कर अपनी ज़मीन से ( अपने परिवेश और वर्ग से ) कट जाता है। भौतिकता की इस स्पर्द्धा में व्यक्ति सफल तो होता है पर अपनी आत्मा को बेचकर। बाद में होश आने पर वह अतीत की छाया को जब छूता है तब उस काव्य-पंक्ति की भांति उसे दुःख और ग्लानि से हाथ मलते रह जाना पड़ता है : " छाया मत छूना मन, होगा दुःख दूना मन।" अपने इस कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए लेखक ने कमल बोस के मित्र प्रशान्त का निर्माण किया है। सम्पूर्ण कथा Flash-back और शब्द तथा स्थानों से निष्पन्न स्मृतियों के सहारे चलती है। अतीत दर्शन के लिए दूरबीन तथा चन्दा की दयनीय ज़िन्दगी के लिए " मरी हुई तितली " जैसे स्वाभाविक प्रतीकों से उसका शिल्प निखर उठा है। संक्षेप में प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने बखूबी गुज़रे हुए अतीत को शनैः शनैः वर्तमान के पास आते हुए दिखाया है और साथ ही कुशलतापूर्वक यह संकेतित भी किया है कि यह उन सभी का आगामी अतीत हो सकता है जो अपनी ज़मीन से कटकर सफलता के आसमान में चमकना चाहते हैं।

कमलेश्वर का प्रत्येक उपन्यास कोई न कोई समस्या या विचारधारा को लेकर चलता है। " एक सड़क सत्तावन गलियां ", " तीसरा आदमी ", " डाक बंगला " आदि जहां निम्न मध्य वर्ग की आर्थिक विसंगतियों को उद्घाटित करते हैं, वहां " लौटे हुए मुसाफिर " तथा " काली आंधी " में क्रमशः भारत-विभाजन की समस्या और उसकी करुण परिणतियां तथा राजनीतिक दाव-पेंचों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में लेखक ने उभारा है। " काली आंधी " में कुछ लोगों को श्रीमती इन्दिरा गांधी के चरित्र की छाया दिखती है। इसमें लेखक ने यह चित्रित करने का प्रयास किया है कि कैसे राजनीतिक सम्भावनाएं मानव-जीवन की संवेदनाओं के साथ जोड़-तोड़ करने पर आमादा होती हैं। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि कुछ रोमानी कथा-पट के रहते हुए भी कमलेश्वर अपने युग के सत्य को उद्घाटित करने में सफल दिखायी पड़ते हैं।

---

१. " देखिए : भूमिका : " आगामी अतीत " : पृ० ५ ।

## अँधेरे बन्द कमरे ( १९६१ )

नयी पीढ़ी के अग्रणी नाटककार एवं कथाकार मोहन राकेश[1] आधुनिक नगरीय परिवेश के विभिन्न आयामों को, उनके सही परिप्रेक्ष्य में, देखने-समझने और रूपायित करने में सफल हुए हैं। राकेश की व्यक्तिगत जिन्दगी यायावरी की रही है। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली जैसे महानगरों में उनकी जिन्दगी का अधिकांश भाग बीता है। एक स्थान पर और नौकरी पर टिके रहना उनकी प्रकृति में नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार राकेशजी निहायत अव्यवस्थित, गैरजिम्मेदार एवं 'स्नोब' किस्म के व्यक्ति थे तो कुछ के अनुसार 'बेहद भावप्रवण और चेतनाशील कलाकार'।[2] कमलेश्वर के शब्दों में "बड़ी बेतरतीब जिन्दगी है मेरे इस दोस्त की, पर सतह के नीचे उतरते ही एक ज़बरदस्त अनुशासन दिखाई पड़ता है। वह अनुशासन है दिमाग और सृजन का। ऊपरी जिन्दगी में वह जितना असंगठित और बिखरा हुआ दिखाई देता है, उतनी ही संगठित और सुव्यवस्थित है उसके लिखने की प्रक्रिया। जितने मसल-मसलकर वह सिगरेट के टुकड़े जगह-जगह फेंकता है, उतने ही करीने से वह अपने विचारों और अनुभवों को सजाता है। उसके कफ कोट की आस्तीन से चाहे छः अंगुल बाहर निकले रहें, पर कहानी में कलात्मक असंतुलन की कोर नजर नहीं आ सकती।"[3] 'अन्धेरे बन्द कमरे' ( १९६१ ), 'अन्तराल' ( १९७२ ) तथा 'न आनेवाला कल' ( १९६८ ) उनकी यह तीनों औपन्यासिक कृतियां साठोत्तरी हैं।

'अंधेरे बन्द कमरे' आधुनिक भावबोध से संपन्न बहुचर्चित उपन्यास है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के विवेचकों में इस कृति ने काफी खलबली मचायी थी। डा० कुसुम वार्ष्णेय के मतानुसार "मोहन राकेश का यह पहला उपन्यास सातवें दशक के नये आयाम खोलने की गवाही देता है। यहीं से व्यक्ति-सम्बन्धों का बाह्य परिवेश छूटता नज़र आता है और आन्तरिक परिवेश की बात भर रह गयी है। मोहन राकेश द्वारा 'अंधेरे बन्द कमरे' में पहली बार स्त्री-पुरुष के नये सम्बन्धों और तनावों को भरपूर खुली आंखें देखने की कोशिश की गई है। उसमें

---

१. उनका निधन दि० ३-१२-७२ को दिल्ली के राजेन्द्रनगर में हुआ।

२. 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' : सं० कमलेश्वर : पृ० १०।

३. वही : पृ० १२-१३।

सांस्कृतिक विघटन, बदलते बाह्य परिवेश में स्त्री-पुरुष की मानसिकता की ढकी-छिपी रेखाएं और कोण पहली बार उजागर हुए हैं। न उसमें इलाचन्द्र जोशी वाला सतही मनोविश्लेषण है और न जैनेन्द्रवाली थोथी कुण्ठाएं। मानसिक उलझन और तनाव, आन्तरिक कशमकश ने ज़िन्दगी में 'वेक्यूम' पैदा करने के साथ नये आयाम खोल दिये थे, वे सह जीवन-स्पन्दन के रूप में 'अंधेरे बन्द कमरे' में पहली बार प्रगट हुए हैं।'[1] श्रीकान्त वर्मा ने प्रस्तुत उपन्यास के संगठन में कुछ दोष बताये हैं, जैसे कि इसमें ड्राइंग-रूम और सड़क का एक साथ चलना। ( ड्राइंग-रूम हरबंस-नीलिमा तथा ~~अक~~ उनके वर्तुल का '~~सोफिस्टिटी~~' सोफेस्टीकेटेड' समाज है, तो सड़क दिल्ली की निम्न कोटि कस्साबपुरा आदि ~~का चित्र है~~ की जिन्दगी का चित्र है। ) परन्तु "जहां तक इसकी घुटन, ऊब और एकरसता का सम्बन्ध है, शायद यह पहला उपन्यास है जिसने इतनी तीव्रता के साथ इसे प्रतिष्ठित किया है।"[2] डा० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में यह उपन्यास "यदि कृति नहीं है तो अनुकृति भी नहीं है, उपलब्धि नहीं है तो सम्भावना अवश्य है। यह इसलिए कि इसमें कृति होने की क्षमता है, उपन्यास के मुहावरे को खोजने की लगन है।"[3]

वस्तुत: इसमें हरबंस और नीलिमा के दाम्पत्य की दरारों को उ उकेरने का एक कलात्मक अभियान है। आज के सुशिक्षित व्यक्ति की प्रधान समस्या है उसका अहं। इस 'अहं' के कारण जीवन की उत्ताल तरंगों के बीच वह अपना अलग 'द्वीप' बना लेता है और जीवन से निरन्तर कटता जाता है और शनै: शनै: नितान्त अकेला और एकरस होता जाता है। हरबंस और नीलिमा के सामने कोई आर्थिक समस्या नहीं है। उनकी समस्या स्वार्जित है। आधुनिक शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता तथा ~~स्त्र~~ स्त्री-स्वतन्त्रता के ~~विचारों-के-जहां~~ खयालों ने जहां ~~एक~~ स्त्री को एक उच्च भूमिका प्रदान की है, वहां उसे पति, परिवार एवं अपने से भी तोड़ा है। स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व पुरुष को लुभाता है परन्तु 'कोर्टशीप' के दिनों में विवाह के बाद उसकी यही स्वतन्त्रता उसे खलने लगती है क्योंकि पुरुष शताब्दियों से संचित अपने 'अहं' एवं 'एकाधिकार' के विचारों को सर्वथा त्याग नहीं सकता।

---

१. सम्मेलन पत्रिका : साहित्य-संस्कृति-भाषा विशेषांक : चैत्र-मार्गशीर्ष, शक १८८४।

२. 'हिन्दी उपन्यास: पहचान और परख' : श्रीकान्त वर्मा : पृ० २२५।

३. 'आज का हिन्दी उपन्यास' : डा० इन्द्रनाथ मदान : पृ० ६०।

हरबंस नीलिमा जैसी आधुनिका के स्वतन्त्र व्यक्तित्व से मुग्ध होकर उससे प्रेम-विवाह करता है। हरबंस और नीलिमा के 'कार्टशौप' के दिन बड़े ही आकर्षक, उत्तेजक एवं प्रेमसभर थे। बाद में भी हरबंस जब कभी नीलिमा को प्रेमपूर्वक सम्बोधित करता है तो उसके तभी के नाम 'सविता', 'सवि' आदि से करता है। प्रारम्भ में 'अल्ट्रा माडर्ननैस' के चक्कर में हरबंस नीलिमा को 'पार्टियों' और 'काफी हाउसों' की बहसों में लाने के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहित करता है। नीलिमा को 'पैण्टिंग' और 'नृत्य' की ओर प्रेरित करने वाला हरबंस ही था। परन्तु यह सब वह अपने 'अहं' को पोषित करने के लिए करता है। जहां उसे नीलिमा के द्वारा उसके 'अहं' पर चोट पहुंचने का खतरा महसूस होने लगता है, वहां वह कतराकर भाग ~~जाता है~~। भाग खड़ा होता है। हरबंस का विदेश भाग जाना, बाद में नीलिमा को बुलाना, उमादत्त के नृत्य-ट्रूप में पहले नीलिमा को भेजकर बाद में उससे असहयोग कर लेना तथा स्वदेश लौट आने पर नीलिमा के नृत्य-प्रदर्शन में भी उसका खिंचा-खिंचा रहना उसके यही 'अहं' की कशमकश है। एक स्थान पर नीलिमा हरबंस से कहती है -- तुम सिर्फ इस हीन-भावना के शिकार हो कि लोग मुझे तुम से ज्यादा जानते हैं और उनमें जो बात होती है वह तुम्हारे विषय में न होकर मेरे विषय में होती है। तुम्हें यह बात खा जाती है कि लोग तुम्हारी चर्चा नीलिमा के पति के रूप में करते हैं। तुम्हें डर लगता है कि अगर मेरा प्रदर्शन सफल हुआ, तो लोग मुझे और ज्यादा जानने लगेंगे और तुम अपने को और छोटा महसूस करोगे।'[१]

नीलिमा का नृत्य-प्रदर्शन बहुत असफल रहता है। नीलिमा इसके लिए हरबंस के व्यवहार को उत्तरदायी समझकर अत्यन्त हताश हो जाती है और हरबंस के साथ रहना नागवार समझकर अपनी मां के पास चली जाती है। परन्तु अन्त में कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर वह पुन: आ जाती है। एक दृष्टि से ~~देख~~ देखा जाय तो मन्नू भण्डारी कृत 'आपका बण्टी' उपन्यास के प्रारम्भ की स्थिति उपन्यास के अन्त में लक्षित होती है। अन्तर इतना है कि वहां अजय और शकुन तलाक ले ही लेते हैं, जबकि यहां किसी प्रकार समझौता करने की वृत्ति है। कामू के अनुसार हम लोग सहअस्तित्व के लिए अभिशप्त हैं।' आन्तरिक भाषा और सूत्र के अभाव में सचमुच ही सह-अस्तित्व -- जिसे भ्रमवश हम प्रेम कहते हैं -- एक अभिशाप है।[२]

---

१. 'अंधेरे बन्द कमरे' : मोहन राकेश : पृ० ३४५। २. 'हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख' : श्रीकान्त वर्मा : पृ० २२६।

नीलिमा की बहन शुक्ला नीलिमा से दूसरे छोर पर है। उसमें स्त्री-सहज कोमलता की मात्रा कुछ अधिक है। जहां नीलिमा की बौद्धिक-सन्नद्धता पुरुष पुरुष के अनुशासन में रहना नहीं चाहती, वहां शुक्ला को पुरुष का यह अनुशासन ही अधिक प्रियकर है। अत: 'ब्यूटी रेडिएट्स करने वाली' अनुशासनप्रिय शुक्ला के प्रति बहनोई हरबंस का झुकना सहज ही है। हरबंस का अवचेतन शुक्ला को चाहने लगता है। शुक्ला को जन्म-दिन पर हरबंस का शुभकामनाओं को प्रेषित करने वाला पत्र मिल जाता है, जबकि नीलिमा को नहीं मिलता। हरबंस का चेतन मन स्वयं को अपराधी महसूस करता है, परन्तु भीतर से उसके अवचेतन मन को कदाचित् प्रसन्नता ही होती है। शुक्ला को चाहने के कारण ही वह जीवन भार्गव, विश्वमोहन, सुरजीत तथा मधुसूदन से ईर्ष्या करने लगता है क्योंकि इन सबके लिए शुक्ला के मन में सम्मान है। परन्तु वह तो इन सब को इसलिए मानती है क्योंकि 'पापाजी' (हरबंस) ही इन व्यक्तियों को मिलाते हैं तथा उनकी प्रशंसा करते हैं। हरबंस पहले तो किसी की प्रशंसा करता है, परन्तु ज्यों ही वह आदमी शुक्ला के प्रति आसक्त होने लगता है वह उसके लिए तिरस्करणीय हो जाता है। अत: हरबंस के विदेश चले जाने पर जब शुक्ला सुरजीत से विवाह कर लेती है तो हरबंस को बहुत बुरा लगता है और वह उन दोनों का बहिष्कार कर देता है। परन्तु तब भी शुक्ला हरबंस को चाहती है और नीलिमा के चले जाने पर उसका खयाल रखती है।

हरबंस का व्यक्तित्व जितना कुण्ठित बताया है, नीलिमा का व्यक्तित्व उतना ही उन्मुक्त है। वस्तुत: संकोच-शीला नीलिमा को 'अप-टु-डेट' एवं महत्वाकांक्षी हरबंस ने ही बनाया था, परन्तु बाद में उसकी यही बातें उसे बुमरेंग की तरह चोट करती हैं। ऊबानु या जीवन भार्गव के साथ के अपने आकर्षण को न नीलिमा छिपाती है और न अपनी अनुपस्थिति में शुक्ला द्वारा की गई हरबंस की सेवा को अन्यथा लेती है। उमादत्त के ट्रिप में शामिल होने के बाद होटल के एक कमरे में ऊबानु के साथ ठहरने के बावजूद वह मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती। वह महत्वाकांक्षी, आत्मनिर्भर तथा स्वाभिमानी है। उसके अनुसार पति-पत्नी में केवल शारीरिक सम्बन्ध ही सबकुछ नहीं होते, इसके अतिरिक्त भी कुछ होता है जिसके अभाव में स्त्री का केवल पुरुष की वासना-पूर्ति का साधन

---

१. 'अन्धेरे बन्द कमरे' : पृ० १०१।

मात्र रह जाना उसके स्वाभिमान के खिलाफ़ है।[1]

मधुसूदन जो एक पत्रकार है उपन्यास में 'नैरेटर' के रूप में आया है। कुछ लोगों के अनुसार मधुसूदन और सुषमा श्रीवास्तव उपन्यास के अनावश्यक पात्र हैं और मधुसूदन द्वारा चित्रित दिल्ली की निम्न-वर्गीय ज़िन्दगी के चित्रों के अभाव में भी उपन्यास के प्रभाव में कोई कमी नहीं आती। परन्तु मधुसूदन उपन्यास का वह पात्र है जिसके द्वारा हरबंस और नीलिमा के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। लेखक ने उपन्यास का संघटन जिस प्रकार का किया है उसमें इस पात्र की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। प्रथम भाग उसके दुबारा दिल्ली आने से पूर्व के नौ वर्षों की स्मृतियों से बना है, द्वितीय भाग में हरबंस और नीलिमा टुकड़े-टुकड़े अपनी विदेश यात्रा की कथा को कहते हैं तथा तृतीय और चतुर्थ भाग में हरबंस और नीलिमा के दाम्पत्य में पड़नेवाली दरारों का वह साक्ष्य रहा है। दूसरे हरबंस और नीलिमा जिस वर्ग-विशेष से जुड़े हुए हैं उसमें इन पात्रों का आना अतर्क्य नहीं है। निम्न-वर्गीय ज़िन्दगी का चित्र इस विसदृशता के द्वारा यह व्यंजित करता है कि न केवल इन लोगों की ज़िन्दगी खोखली है, बल्कि उनके सुख और दुःख भी खोखले हैं। दुःख किसे कहा जाता है, शायद वे जानते नहीं। इनका दुःख कई बार एक रोमानी ख्याल मात्र होता है। यशपाल की 'दुःख' नामक कहानी इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। अतः उस दूसरी ज़िन्दगी के यथेष्ट चित्रण द्वारा लेखक ने न केवल उपन्यास की व्यंग्यात्मकता को बढ़ाया है, अपितु उसे सूक्ष्म व पैना भी किया है। आधुनिकता की भले रक्षा न हुई हो, कलाकार के सामाजिक दायित्व की रक्षा उससे अवश्य हुई है।

श्रीकान्त वर्मा के अनुसार पत्रकार सुषमा श्रीवास्तव उपन्यास का अत्यन्त आधुनिक स्त्री पात्र है। प्रत्येक क्षेत्र में वह पुरुष की स्पर्द्धा करती है। वह स्पष्ट एवं दो-टूक बात करने वाली है।[2] परन्तु उपन्यास के अन्त में वह भी अकेलेपन से टूटती हुई प्रतीत होती है। उसके 'कान्सीक्यूशन-हाउस' अंधेरे बन्द कमरे में वह मधुसूदन के बहुत करीब आती है, परन्तु उसके साथ विदेश जाने की बात पर

---

१. देखिए : "हम लोगों में एक दूसरे के प्रति जो उत्साह होना चाहिए, वह उत्साह धीरे धीरे समाप्त हो गया है। हम लोग पति-पत्नी हैं, परन्तु पति-पत्नी में जो चीज़ होती है, जो चीज़ होनी चाहिए वह हम में कब की समाप्त हो चुकी है। और अगर मैं ठीक कहूँ, तो वह चीज़ कभी थी ही नहीं।" : 'अन्धेरे बन्द कमरे : पृ० ४२२। २. देखिए : हिन्दी उपन्यास : पहचान और परख'।

मधुसूदन को 'पोलिटिकल सेक्रेटरी' की बात की गन्ध आती है और वह उससे कट जाता है। शुक्ला, सुषमा आदि से मधुसूदन का कटकर कस्साबपुरा की ठकुराइन की पुत्री निम्मो की ओर भागना कुछ पलायन-सा और अस्वाभाविक भी लगता है।

हरबंस-नीलिमा की इस कथा की पृष्ठभूमि में लेखक ने महा नगरीय जीवन के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया है। पार्टियाँ, सांस्कृतिक डेलिगेशन, पत्रकारिता, उसके हथकण्डे, भौतिकता की दौड़ में पत्नी को साधनरूप बनाना, साहित्य-कला-नृत्य आदि पर काफी-हाउसों में बहसों का चलना, स्त्री-स्वतन्त्रता ~~के~~ की आड़ में उसे वासना की कठपुतली बनाना तथा उसके विपरीत दूसरे छोर पर दिल्ली की कस्साबपुरा जैसी गन्दी भिनकती गलियों में लोगों का कीड़े-मकोड़ों की तरह जीना आदि हमें महानगर दिल्ली ~~के~~ के जीवन को समझने में, और उतने अंश में महानगरीय जीवन को समझने में सहायक होता है। 'हवा में झिलमिलाते कोहनूर' वाला पूरा प्रसंग मधुसूदन के दिमाग में चलता है। शैली की दृष्टि से चित्ताकर्षक होते हुए भी उपन्यास में वह स्थल आरोपित-सा लगता है।

## अन्तराल ( १९७२ )

'अन्तराल' मोहन राकेश का अन्तिम उपन्यास है। सूक्ष्म संवेदना ~~एवं~~ एवं संवेगों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति उसकी उपलब्धि है। "सम्बन्धों को दिये गये सब नाम केवल सुविधा के लिए हैं... वास्तविक सम्बन्ध इतने सूक्ष्म होते हैं, और व्यक्ति-व्यक्ति के साथ इतने अलग, कि उन्हें नाम दिये ही नहीं जा सकते।"[१] 'अन्तराल' इसी अनाम सम्बन्धों की कहानी है।

कुमार और श्यामा दोनों के जीवन में दो रिक्त कोष्ठ हैं -- श्यामा के जीवन में उसके मृत पति देव का और कुमार के जीवन में एक दुबली-पीली-सी लड़की लता का जिसके साथ उसने कभी घर बसाने की बात सोची थी। कुमार किसी कस्बाती शहर के कालेज में दर्शन-शास्त्र विभाग में अध्यक्ष व प्रोफ़ेसर था। लता उसकी छात्रा थी। बाद में वह उसी विभाग में लेक्चरर के पद पर नियुक्त हुई थी। दोनों में प्रेम था। किन्तु लता के घर वालों को यह रिश्ता मंजूर नहीं

---

१. 'अन्तराल' : पृ० २१३।

था । अत: उन्होंने लता की शादी किसी अन्य से कर दी, और लता में इतना साहस नहीं था कि वह इसका विरोध करती ।

इस घटना के कुछ वर्ष बाद श्यामा वहां आयी थी । श्यामा स्थानीय कालेज के एक प्रोफेसर मलहोत्रा की विधवा साली थी । वह मण्डी के किसी स्कूल में टीचर थी और प्राइवेट तौर पर एम० ए० करना चाहती थी । अत: कुछ दिनों की छुट्टी लेकर वहां आयी हुई थी । कुछ दिनों तक वह आने की तरह आयी थी और कुमार ने पढ़ाने की तरह पढ़ाया था ।[1] पर कुछ ही दिनों में वे दोनों एक-दूसरे के बहुत करीब आ गये थे । श्यामा देव को लेकर हमेशा एक दोहरी मन:स्थिति को ढोती रहती है । वह मानो मृत्यु के बाद भी मरा नहीं था । श्यामा ने उसे कभी नहीं चाहा क्योंकि जिसको चाहती थी उसने किसी संसद-सदस्य की लड़की से शादी कर ली थी । देव के व्यवहार में भी उसे लेकर एक प्रकार का ठण्डापन व 'इकहरी तटस्थता'[2] थी जिससे श्यामा के उसके साथ बीते दो वर्ष एक संत्रास की स्थिति से बेहतर नहीं थे । श्यामा मासोकवादी प्रकृति की लड़की है, अत: अपने आप को कष्ट देकर घुटने में उसे कदाचित् अच्छा लगता है । मरने के बाद भी तड़प-तड़प कर मानो वह देव को सजा देना चाहती है । अत: वह कुमार से चाहकर भी नहीं खुल सकती । एक बार कुमार द्वारा वैसा प्रयत्न करने पर वह छिटक कर अलग हो जाती है तथा छुट्टियों को कैन्सिल कर दो-तीन दिन में ही भाग खड़ी होती है । कुमार के लिए उसके मन में एक कशमकश शुरू से मिलती है । जाते समय उसका कुमार को दूसरे स्टेशन पर मिलने के लिए कहना : वहां गाड़ी छूटने से पहले उसका यह कहना कि "सचमुच में कभी उबर सकी अपने-आप से, जिस की मुझे आशा नहीं है, तो सबसे पहले मैं तुम्हारे पास आऊंगी"[3] । पृ० १२२ से १३२ तक कुमार को लेकर चलने वाले उसके दिवास्वप्न तथा मलहोत्रा द्वारा यह समाचार पाकर कि कुमार बम्बई में है उसका अपनी सास एवं ननद सीमा के साझे में फ्लैट खरीदना तथा वहां जाकर रहने का निर्णय करना आदि बातें कुमार के प्रति उसके आकर्षण को निर्दिष्ट करती हैं ।

---

१. 'अन्तराल' ? पृ० २७ ।

२. वही : पृ० १४६ ।

३. वही : पृ० ८४ ।

परन्तु श्यामा और कुमार का यह 'अन्तराल' यहां भी अनलांघा रह जाता है। कुमार ने किसी से शादी कर ली थी, परन्तु दोनों में पटी नहीं क्योंकि किसी ने एक अरसे तक लटकाए रखने के बाद लड़की को 'फांसा' दिया था और उसे 'कुछ कर दिखाने के जोश में उसने कुमार से शादी की थी। अत: कुमार को केवल शरीर के अतिरिक्त उससे क्या मिल सकता था ? फलत: दोनों अलग हो जाते हैं। स्थिति श्यामा के लिए ज़रूर 'फेवरेबुल' थी, परन्तु ऐन उसी वक्त उसके मस्तिष्क में यह विचार कौंध जाता है कि देव और उसके सम्बन्धों में क्या कुछ ऐसा ही नहीं था ? क्या वह शुरू से ही देव के प्रति उदासीन नहीं थी ? उसका यह ठण्डापन क्या देव की मौत के लिए उत्तरदायी नहीं था ? अभी तक वह देव को दोषी मानती थी, पर अब वह स्वयं 'कनसाइन्स' के कठघरे में अपने को खड़ा पाती है। अत: कुमार द्वारा उसके शरीर को पाने की कोशिश करने पर वह बलपूर्वक उसे हटा देती है और फिर मण्डी वापस जाने का निर्णय कर लेती है।

यह दोहरी मन:स्थितिवाली तथा कुछ-कुछ रोमानी लगने वाली कहानी का परिवेश लेखक ने यथार्थ की भूमि पर खड़ा किया है। 'आवाज़ों के सहारे चलने वाली' बम्बई की यांत्रिक ज़िन्दगी, श्यामा की ननद सीमा का बेलाग व उन्मुक्त व्यवहार, बसों और ट्रामों की भीड़ में 'कोमल स्पर्श' के लिए कुछ लोगों का सायास शरीर रगड़ना या छिलना आदि चित्र जहां महानगरीय भावबोध को उभारते हैं : वहां प्रोफेसर मलहोत्रा तथा मिस रोहतगी का यूनिवर्सिटी पालिटिक्स में रात-दिन रचा-पचा रहना, मलहोत्रा का श्यामा के साथ का दुर्व्यवहार, आर्ट्स कालेज के अंग्रेजी के प्राध्यापक गोपालजी का श्यामा के प्रति काम-लोलुप व्यवहार, मण्डी स्कूल की अध्यापिकाओं के बातों के विषय तथा उसमें प्रच्छन्न उनकी दमित वासनाएं, लेडी डाक्टर बत्रा की आत्महत्या, श्यामा को दूसरे स्टेशन पर छोड़कर आते समय रिक्शा में सहयात्री पहलवान का कुमार की जांघों के बीच कुछ टटोलना, कुमार की प्रथम प्रेयसी का उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह हो जाना आदि कस्बाई वातावरण को चित्रित करने में सक्षम हैं।

डा० रामदरश मिश्र ने इसमें पात्रों की भीड़ की शिकायत की है,[1] परन्तु प्रधान पात्र तो श्यामा और कुमार के हैं। सम्पूर्ण कथा श्यामा और कुमार के आन्तरिक संवेगों के आसपास घूमती है। शेष पात्र तो केवल पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं। यदि उन पात्रों की समस्याओं को भी उपन्यास में लिया जाता, तब तो

1. 'आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि' : पृ. १३९।

डा० मिश्र की आपत्ति कुछ तर्क-संगत समझी जाती । संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास आधुनिक भावबोध की सूक्ष्म व्यंजना में सफल हुआ है ।

मोहन राकेश की कथा-कृतियों में कई बार आत्म-प्रक्षेपण ( self-Projection ) भी मिलता है । राकेश की यायावरी वृत्ति, मन के भीतर चलने वाला सतत संघर्ष, अव्यवस्थित ज़िन्दगी[1] आदि की कुछ छाया हमें `अन्धेरे बन्द कमरे` के हरबंस, `अन्तराल` के कुमार तथा `न आनेवाला कल` के मनाज में उपलब्ध होती है । `न आने वाला कल` में लेखक ने मनोज के अकेलेपन के द्वारा जीवन की ~~सून्यता~~ शून्यता एवं व्यर्थता का अहसास करवाया है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि मोहन राकेश के उपन्यासों में व्यक्ति-चरित्रों की गुंजलकों का चित्रण आधुनिक भावबोध को व्यंजित करने के लिए होता है । महानगरीय जीवन का संत्रास, ऊब एवं घुटन हम यहां देख सकते हैं ।

## वे दिन ( १९६४ )

`वे दिन` यूरोप की महायुद्धोत्तर नयी दिशा-हारा पीढ़ी के सन्त्रास, घुटन, तनाव, मूल्यहीनता, अर्थहीनता और उसके रोतापन को रूपायित करने वाला उपन्यास है । शीर्षक से ही यह बोध हो जाता है कि उसका सम्बन्ध पात्रों के अतीत से है : परन्तु यहां पात्रों की दुर्भाग्यपूर्ण नियति यह है कि अतीत `सावा घन सघन बरसते` वाला न होकर, युद्ध की अभिशप्त छाया से जुड़ा हुआ है । युद्ध की इस छाया से प्रत्येक पात्र आक्रान्त है । युद्ध न केवल कुछ लोगों को खत्म कर देता है, प्रत्युत अपने पीछे एक काली विषाक्त, अवसाद में डूबी हुई शान्ति को छोड़ जाता है, जिसे भोगने वाले व्यक्ति जीवित होते हुए भी संवेदना के स्तर पर मुर्दे के समान होते हैं ।[1] रायना, जाक, मारिया, फ्रान्ज़, टी० टी०, `मैं` आदि ऐसे ही पात्र हैं जिन की संवेदना इस युद्धोत्तर शान्ति के विषपान से भोंथी पड़ गयी है ।

---

१. " लेकिन कुछ चीज़ें हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती हैं -- शान्ति के दिनों में... हम उनमें से एक थे । ... वे लोग घरेलू ज़िन्दगी में खप नहीं पाते । ... मैं किसी काबिल नहीं रह गया हूं... नाट ईवन फार लव । पीस कौल्ड इट... " : `वे दिन` : निर्मल वर्मा : पृ० २११ ।

संवेदनशील कथाकार श्री निर्मल वर्मा का यह प्रथम उपन्यास चैकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग के क्रिसमस के चन्द शान्तिपूर्ण दिनों की कहानी है। आस्ट्रियन पति-परित्यक्त युवती रायना अपने एक मात्र पुत्र मीता को लेकर प्रग्म-प्राग आयी है। रायना और जाक ( उसका पति ) अलग रहते हैं, पर बारी बारी से छुट्टियों में मीता को बांट लेते हैं। बाकी दिन उसके हास्टेल में गुजरते हैं। उपन्यास का नायक 'मैं' एक भारतीय छात्र है जो प्राय: छुट्टियों में विदेशी टूरिस्टों के लिए 'इण्टरप्रेटर' का काम करता है। रायना के साथ वह तीन दिन रहता है। वियना जाने से पूर्व एक रात रायना 'मैं' के साथ हॉस्टेल में गुजारती है। अब तक पुरुष स्त्री को भोगता था, यहां एक स्त्री पुरुष को भोगती है।

उपन्यास के मुखपृष्ठ पर दिया गया है कि बर्फ और धूप, छुट्टियों का खालीपन, पुराने शहर के पुल और टावर -- इन सबके बीच एक अवसादपूर्ण प्रेमकथा चुपचाप चलती है।" नायक के पक्ष में इसे एक प्रेमकथा कदाचित् माना भी जाय क्योंकि इन तीन दिनों में रायना से उसकी निस्संगता कम होती गयी है। उसका वापस जाना उसे निराश भी करता है। दो-एक बार परोक्ष ढंग से वह उसे कुछ दिनों के लिए ठहर जाने का संकेत भी देता है। परन्तु रायना इस सारे कार्य-कलाप में निस्संग रहती है। वह प्रेम को शरीर की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में ही लेती है। उसके साथ अक्सर दूसरे शहरों में ऐसा होता है। वह ज्यादा दिन इकेले रह नहीं सकती। इस सम्बन्ध में नैतिकता के प्रश्न को वह नहीं लाती क्योंकि दूसरे को यदि पछतावा न हो तो वह उसमें कोई बुराई नहीं देखती।[१]

उपन्यास की कोई बंधी-बंधायी कथा नहीं है। वस्तुत: वह स्थूल न होकर सूक्ष्म अधिक है। उपन्यास का प्रत्येक पात्र अकेलेपन की अभिशप्त नियति को ढोने के लिए विवश है। अपने परिवेश से कटा हुआ नायक एकरस उबाऊ जिन्दगी को जिए जा रहा है। उसके सामने कोई राह, कोई उद्देश्य नहीं है। एक अर्थहीन भटकन और उसे भुलावे में डालने के लिए स्लिवोवित्से, चियान्ती, कोन्याक, बियर

---

१. "मैं सिर्फ चाहती हूं कि दूसरे को बाद में पछतावा न हो.... दैन इट इज़ मिज़री।" : 'वे दिन' : पृ० २०६।

आदि का झूठा सहारा -- यही मानो उसका जीवन हो गया है। रायना का साहचर्य कुछ लहरें अवश्य पैदा करता है, परन्तु अन्त में वह भी एक छलावा-मात्र सिद्ध होता है।

जहां फ्रान्ज़ और मारिया तथा जाक और रायना युद्धोत्तर परिणतियों की अभिशप्त छाया से प्रत्यक्षत: ग्रसित हैं, वहां मैं और उसका बर्मी मित्र टी० टी० उसके प्रत्यक्ष शिकार न होते हुए भी उसे भोगने के लिए विवश हैं क्योंकि अपनी ज़मीन, अपने परिवेश से वे कट चुके हैं। नायक द्वारा बहन के पत्र को कई दिनों तक अपाठित रूप में छोड़ देना उसका प्रमाण है। टी० टी० अपनी मां के विवाह में के उपलक्ष्य में अकेले में पाना नहीं चाहता।[१] विदेशी होने के नाते यहां उनकी गिनती अजनबियों में होती है और अपने देश में भी कदाचित् वे अजनबी ही करार दिए जायं क्योंकि उनके ही शब्दों में :" हम ऐसे वर्षों में घर को छोड़कर चले आये थे जब बचपन का सम्बन्ध उससे छूट जाता है और बड़प्पनका नया रिश्ता जुड़ नहीं पाता। अब घर बहुत अवास्तविक-सा जान पड़ता था, जैसे वह किसी दूसरे की चीज़ हो, दूसरे की स्मृति। ... वह अब अर्थहीन था -- और किंचित् हास्यास्पद।"[२] यह दो-तरफा अजनबीपन उनकी ट्रैजडी है।

युद्धोत्तर यूरोपीय परिवेश ही एक प्रकार से उपन्यास का नायक है। प्राग -- ' द मदर आफ सिटीज़, द गोल्डन सिटी, द सिटी आफ हन्ड्रेड टावर्स... द सिटी आफ टियर्स एण्ड नाइट मेयर्स।[३] उसके विभिन्न स्थान : इजेरा, पैलीकोन, रिल्के-रेन्देवू आदि पब तथा रेस्टोरां : विभिन्न शराबें : नौकरीशुदा लड़कियों का हर पन्द्रहवें दिन बालों को रंगवा कर ब्लौण्ड करवाना : आठ बजे के पहले तक होस्टल में प्रेमिका को लाने का नियम, सर्दियों में बाहर प्रेम करने की असुविधा के कारण हास्टेल के गेट कीपर पीटर -- जिसको ये लोग सैंट पीटर कहते थे और जिसका महत्व उनके लिए एंजिल से कम नहीं था[४] -- को कुछ क्राउन देकर 'कीज़ आफ पैराडाइज़' को प्राप्त करना, जिस दिन 'डैट' को मिलना हो उसी दिन स्नान करना, रूम-पार्टनर के लिए रातों को बाहर

---

१. 'वे दिन' : पृ० १०७। २. वही : पृ० ३४। ३. वही : पृ० ३३

४. वही : पृ० २४।

गुज़ारना, डान्स और स्केटिंग आदि जहां उसके ~~बक्सब~~- बाह्य या स्थूल परिवेश को रूपायित करते हैं वहां इस दिशाहारा पीढ़ी के अकेलेपन की घुटन का दर्द उसके सूक्ष्म परिवेश को उभारता है ।

डा० लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय के ~~मकत~~ मतानुसार निर्मल वर्मा लेखक की कोई प्रतिबद्धता नहीं स्वीकारते ।[1] उन्होंने जिस परिवेश का वरण किया है, वह भी नैतिक या सामाजिक मूल्यों के प्रति खास प्रतिबद्ध नहीं है । इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । अपने रूमानियन मित्र तथा उसकी प्रेमिकाओं के लिए कथानायक को अक्सर अपनी शामें बाहर काटनी पड़ती थीं । " यों वह मेरे प्रति क्रूर नहीं था -- उसने कई बार मुझ से कहा था कि मैं आंखें मूंदकर अपने पलंग पर लेट सकता हूं, उसे और उसकी साथिन को कोई आपत्ति नहीं होगी । उसने यह भी आश्वासन दिया था कि मैं चाहूं तो बीच बीच में आंखें खोल भी सकता हूं ।"[2] अत: कहा जा सकता है कि वर्माजी भले समाज या नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध न हों, उपन्यास में वर्णित विषय के परिवेश के प्रति प्रतिबद्ध अवश्य हैं और जिसके आकलन में उन्हें सफलता हासिल हुई है ।

हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में 'वे दिन' एक बहुचर्चित एवं विवादास्पद कृति रही है । डा० इन्द्रनाथ मदान जहां इसे 'हिन्दी उपन्यास विधा का तृतीय महत्वपूर्ण मोड़ मानते हैं'[3], और डा० घनश्याम मधुप जहां इसे 'समसामयिक आधुनिकता के बोध से युक्त हिन्दी उपन्यास की उपलब्धि'[4] करार देते हैं : वहां डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय इसे अधूरेपन की प्रक्रिया और सीमित परिवेश की उपज'[5] बताकर उसके कथ्य की भर्त्सना भी करते हैं ।

परन्तु 'वे दिन' के कथ्य की कटु आलोचना करने वाले डा० वार्ष्णेय भी उसके कलात्मक सौष्ठव की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं : " सारा उपन्यास एक काव्य है और संगीतात्मकता का बोध देता है । इतना सरस प्रवाह 'आधुनिकता' से

---

१. 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' : पृ० १३७ । *व इन्द्रनाथ और परख : पृ-८१*
२. 'वे दिन' : पृ० २७ । ३. 'हिन्दी उपन्यास' : डॉ० इन्द्रनाथ मदान : पृ०
४. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० २०४ । ५. 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' : पृ० १३६-१३८ ।

अभिशप्त हिन्दी के उपन्यासों में कम ही देखने को मिलता है। भाषा की सक्षमता तो निर्मल वर्मा की कहानियों में पहले ही सिद्ध हो चुकी थी, इस उपन्यास में वह अधिक निखरे हुए रूप में सामने आती है। प्रत्येक शब्द जैसे सूक्ष्म संवेदनाओं के चित्र सामने उपस्थित करता है और सारा उपन्यास जैसे बोलता हुआ प्रतीत होता है।"[1]

जहाँ 'वे दिन' में वर्माजी ने 'आधुनिकता' एवं 'अस्तित्वबोध' के उपकरणों के लिए यूरोपीय परिवेश को चुना था, वहां 'लाल टीन की छत' में एक ऐसी पहाड़ी के परिवेश को लिया है जहां वर्ष के कुछ महीनों को छोड़कर निर्जनता व एकाकीपन का साम्राज्य छाया रहता है। उपन्यास काया नामक एक लड़की के आसपास ग्रथित है जो ऐसी सीमा पर खड़ी है, जिसके पीछे बचपन छूट गया है और आनेवाला समय अनेक संकेतों और संदेशों से भरा है। सरदी की लम्बी, सूनी छुट्टियों में वह अपने छोटे भाई के साथ इधर-उधर भटकती रहती है। इस प्रकार निर्मल वर्मा अपने कथा-साहित्य में जीवन के एकाकीपन को उसकी नाना छवियों में उभारते हैं, जिसके समुचित आकलन के लिए वे उपयुक्त परिवेश का चयन करते हैं।

## यात्राएं ( १९७१ )

नयी पीढ़ी के कथाकारों में गिरिराज किशोर एक सफल व सुपरिचित नाम है। 'लोग' और 'चिड़ियाघर' के बाद 'यात्राएं' उनकी आठवें दशक की एक चर्चित कृति है। मुखपृष्ठ के वक्तव्य के अनुसार 'यात्राएं' "एक नव-विवाहित दम्पति की एक दूसरे को समझने की कोशिश और कशमकश में बिताये गये चन्द दिनों की कहानी है, जो विवाह के उन दिनों जैसी ही मोहक और नाजुक है।"

उपन्यास का कथ्य नवीन इस अर्थ में है कि इसमें नव-विवाहित युग्म का रोमान्स नहीं, अपितु उनके भीतर के संघर्ष को, उनके भीतर की रिक्तता को उसमें उजागर करने का प्रयत्न हुआ है। यात्राएं न धार्मिक हैं, न भौगोलिक, क्योंकि केवल एक स्थल -- मसूरी की यात्रा को नव दम्पति जाते हैं : परन्तु इसमें इसी में दोनों एक-दूसरे के मर्म-स्थलों की यात्रा करते रहते हैं। ये यात्राएं व्यक्तिगत

---

१. 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' : पृ० १३८।

रूप से वन्या ( उपन्यास की नायिका ) और `मैं` ( नायक ) को समझने में सहायक होती हैं ।

कुल कहानी इतनी है कि उपन्यास का नायक `मैं` नायिका की सेक्स के प्रति की उदासीनता से शिथिलता का अनुभव करता है और पत्नी को सहज रूप से उपलब्ध नहीं कर पाता । अनुपलब्धि का यह अहसास इतना गहरा व तीव्र हो जाता है कि वह अपने पौरुष या पुंसत्व के प्रति सशंकित हो जाता है । वन्या सवेरे " ताजा, जीवित और नयी हुई-सी लगती थी । दिन के उतार के साथ उसका भी उतार शुरू हो जाता था और रात होते-होते वह समाप्त हो जाती थी ।"[1] लोक-कथाओं के दानवों की प्रेयसियां रात को उठ बैठती थीं और सवेरे मर जाती थीं । यहां इस समीकरण का विलोम था । वन्या दिन में जीवित रहती, रात में मर जाती । नायक `मैं` इस स्थिति से आतंकित है, क्योंकि उसने अपने मित्रों से इस विषय में अनेक शौर्यपूर्ण (?) कहानियां सुन रखी थीं कि पहली बार में ही `बिल्ली` मारना ज़रूरी है । वीरोचित भावना से पूर्ण उसके मित्र सुहागरात में सद्व्यवहार वर्जित मानते थे,[2] जबकि नायक अपनी शिक्षा और संस्कारों के कारण उस सीमा तक नहीं जा सकता ।

वन्या की इस उदासीनता के सम्बन्ध में डा० कुंवरपालसिंह का मत है कि शायद वन्या अपने पति के आत्म-संयम का परीक्षण करना चाहती थी,[3] परन्तु उपन्यासों में दिये गये संकेतों से प्रतीत होता है कि वह नायक से कुछ कहना चाहती है, पर किसी कारण से कह नहीं पाती ।[4] पृ० ८८-८९ पर वह कहती है ---" क्या हम एक-दो रोज़ रुक नहीं सकते ?" नायक के क्यों पूछने पर वह ससंकोच बताती है कि " मेरा समय निकट है, मैं डरती हूं कि कहीं...." इससे ध्वनित होता है कि वन्या का एम० सी० पिरिअड निकट है और इसलिए वह कदाचित् खुलकर स्वयं को दे नहीं पाती ।

इस अनुपलब्धि से नायक घुलता जाता है । वन्या समझती है कि उसकी इस स्थिति के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है, पर अपने स्वभाव एवं संस्कारों

---

१. `यात्राएं` : गिरिराज किशोर : पृ० ६१ । २. वही : पृ० १३ ।

३. देखिए : `हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना` : पृ० २०५ ।

४. देखिए: `यात्राएं` : पृ० १०७ ।

के कारण शायद वह विवश है। दूसरी ओर नायक सोचता है कि कहीं कन्या उसे कापुरुष या धोखेबाज न समझे। वह उन लोगों को भी साक्ष्य रूप में नहीं ला सकता जो उसके पुरुषत्व पर स्वीकार की मोहर लगा सकते हैं क्योंकि वह जानता है कि 'गवाहियों की प्रामाणिकता' उसे और तरह से झूठा सिद्ध कर देगी।[1]

अत: 'यात्राएं' नायक-नायिका के एक नितान्त गुप्त एवं वैयक्तिक उलझाव-अलगाव को रूपायित करता है। उनका भीतर खाली बोतल की तरह इधर से-से उधर लुढ़कता रहता है और बाहर कबूतर की तरह भीगता रहता है। और इसी कशमकश में दोनों ही एक-दूसरे को मानसिक स्तर पर समझने में असफल रहते हैं। डा० कुंवरपालसिंह के शब्दों में दोनों 'चरित्र सामाजिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक दायित्वों से पूर्णरूपेण मुक्त हैं। उपन्यास में रोटी, कपड़ा और मकान को पाने की समस्या नहीं है। समस्या पति-पत्नी के बीच की दूरी को बढ़ाने-घटाने की।'[2] डा० हेमचन्द्र जैन 'यात्राएं' का सौन्दर्य उसकी बिम्बात्मकता में देखते हैं और उपन्यास की चित्रात्मकता, अमूर्तता, सजीवता एवं नये उपमानों के प्रयोगों के कारण उसे एक उल्लेखनीय कृति के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं।[3] परन्तु उपन्यास के कथ्य में में कदाचित् सर्वाधिक बाधक उसकी कृत्रिम भाषा ही है। राजकमल चौधरी का 'मछली मरी हुई' भी सेक्स की समस्या को लेकर लिखा गया है, परन्तु वहां कथ्य लेखक की शैली से और भी सशक्त एवं परिपक्व हुआ है।

संक्षेप में 'यात्राएं' का कथावस्तु अत्यन्त क्षीण है। विवाहोपरान्त के प्रारम्भिक दिनों में पति-पत्नी का एक-दूसरे को शारीरिक रूप से न पा सकने की झुंझलाहट से उत्पन्न उखड़ी-उखड़ी मन:स्थिति को इसमें वैसी ही उखड़ी हुई भाषा में चित्रित किया गया है। न उसमें गहरा मनोविश्लेषण है, न विविध भौतिक स्थितियों का सूक्ष्म अंकन। सच पूछा जाय तो यह 'यात्राएं' नहीं एक मानसिक यात्रा मात्र है।

---

१. यात्राएं : पृ० ८० ।

२. 'हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना' : पृ० २०६ ।

३. देखिए : प्रकर : मई-जून, १९७२ : पृ० ५२ ।

## आपका बण्टी ( १९७१ )

'आपका बण्टी' लेखिका मन्नू भण्डारी का स्वतन्त्र रूप से लिखा गया प्रथम उपन्यास है। इसके पूर्व सहलेखन की परम्परा में[1] 'एक इंच मुस्कान' इस नामक उपन्यास इस लेखक-दम्पति ( राजेन्द्र यादव- मन्नू भण्डारी ) ने लिखा था। लेखिका की एक अन्य कृति 'बिना दीवारों के घर' ( नाटक ) में कथ्य की दृष्टि से 'आपका बण्टी' से तुलनीय है।

'आपका बण्टी' की स्थूल कथा अत्यन्त संक्षिप्त है। अत्याधुनिक सुशिक्षित पति-पत्नी के अहं के टकराव तथा तनावों से उत्पन्न स्थितियों के बीच सम्बन्ध-विच्छेद की भूमिका का निर्मित होते जाना, वकील चाचा जैसे कुछ हितेच्छुओं के प्रयत्नों के बावजूद अन्तत: सम्बन्ध-विच्छेद का होना, अजय-शकुन दोनों का पुन: विवाह-सूत्र में बंधना और इन सबमें एक निर्दोष शिशु -- बण्टी का निरन्तर पिसते जाना, जो इनमें कहीं भी कारणभूत नहीं, बल्कि उनके जातीय-आवेगों का परिणाम मात्र है। बण्टी न डा० जोशी के परिवार में 'एडजस्ट' हो पाता है और न अपने पिता के साथ ही। परिणामत: माता-पिता दोनों के जीवित रहने के बावजूद उसे होस्टेल में भर्ती किया जाता है। असमय का यह वज्राघात क्या उसे असाधारण न बना देगा ? परिवार-वाटिका से विच्छिन्न यह कोमल कुसुम क्या नियति के पैरों तले रौंदा न जायगा ? इन परिस्थितियों में अन्तर्मुखी होकर क्या वह नितान्त आत्मकेन्द्रित न होता जायगा ? मानवीय-संस्पर्श के अभाव में क्या वह गुमराह न हो जायगा ? क्या वह चिन्तक बनेगा? क्या वह हिप्पी या बिटल या शोहदा बनेगा ? उपन्यास के अन्त में ये और ऐसे अनेक प्रश्न हथौड़े की भाँति हमारे मनो-मस्तिष्क पर चोट करते हैं।

---

१. जैनेन्द्र-ऋषभचरण जैन द्वारा लिखित 'तपोभूमि', अज्ञेय तथा अन्य ग्यारह लेखकों द्वारा लिखित 'बारहखम्भा', लक्ष्मीचन्द्र जैन के सम्पादन में कई लेखकों द्वारा लिखित 'ग्यारह सपनों का देश' आदि सहलेखन परम्परा के उपन्यास हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों पर प्राय: एक आरोप लगाया जाता है कि उनमें स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को ही अधिकांशत: विश्लेषित किया गया है। अत: प्रस्तुत उपन्यास इस दिशा में एक नया कदम है। बाल-मनोविज्ञान पर आधारित उपन्यासों में इसके पूर्व कृष्ण बलदेव वैद का `उसका बचपन` उपलब्ध होता है, परन्तु उसकी समस्या दूसरी है। भीष्म साहनी कृत `कड़ियां` में पप्पू की स्थिति कुछ हद तक बण्टी-सी है: परन्तु उसमें लेखक का ध्यान उसकी प्रधान समस्या -- पति-पत्नी के बीच बढ़ती दरार -- पर अधिक केन्द्रित रहा है और उसकी सहानुभूति भी प्रमिला से जुड़ी हुई है। जबकि प्रस्तुत उपन्यास में लेखिका की सहानुभूति और संवेदना का कलश बण्टी पर ढरता है[1] जिससे कृति में सर्वदेशीय करुणा से आप्लावित मानवीय-सौन्दर्य की सृष्टि होती है। जहां कुछ आधुनिक कहे जाने वाले उपन्यास आलोचना की बैसाखियों पर खड़े हैं, वहां अपनी संपूर्ण आधुनिकता के बावजूद प्रस्तुत कृति अपनी सादगी एवं अनायासित-शिल्प के द्वारा एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए है।

साधारण के द्वारा असाधारण की उपलब्धि कला का एक विशिष्ट आयाम है। प्रस्तुत कृति भी सामान्य-सी घटना में मर्मस्पर्शी स्थलों को अन्वेषित कर उसे एक विशिष्ट गरिमा प्रदान करती है। इस साधारण-सी दिखने वाली घटना के द्वारा ही लेखिका ने आज के युग-सत्य को उसके नग्न रूप में उद्घाटित किया है।

आज की अहम समस्या है व्यक्ति के अहं का विस्तार। व्यक्तिवादी-भौतिकवादी चिन्तन ने स्त्री-पुरुष दोनों के `अहं` को इतना उग्र व प्रखर बना दिया है कि व्यक्ति शनै: शनै: अमानवीय होता जा रहा है। `वे दिन` के जाक और रायना के बीच मीता ( बच्चा ) एक अनाहूत अतिथि-सा है, जिसे दोनों बारी बारी से झेलते हैं। स्त्री का इतना कठोर हो जाना, अपने बच्चे के

---

१. देखिए : " मैं दिखाना चाहती थी कि खण्डित माता-पिता के बच्चे किन परिस्थितियों से गुज़रते हैं। सबका अपना अपना व्यक्तित्व होता है। इस सारी परिस्थिति में बच्चों पर क्या प्रतिक्रिया होती है, यही दिखाना चाहती थी। मैंने ऐसे बच्चों को देखा है, तब बेचैन महसूस किया है। मैं उसी को पाठक तक पहुंचाना चाहती थी।" : मन्नू भण्डारी : संचेतना द्वारा आयोजित गोष्ठी में : `संचेतना` : समकालीन उपन्यास अंक : दिसम्बर, १९७१ : पृ० ६३।

प्रति भी, क्या मनुष्यत्व की अन्त:सलिला का सूखते जाना नहीं है ?

स्त्री-पुरुष के इस `अहं' रूपी भैंसाओं की टकराहट में उस गुजराती के अनुसार[1] शिशुरूपी वृक्ष धराशायी होते रहते हैं। और मजा तो यह है कि पश्चिम में स्त्री-स्वातन्त्र्य का जो संमोहन रचा गया है वह अन्तत: कठपुतली का खेल सिद्ध हो रहा है जिसमें डोरी तो फिर भी पुरुष के हाथ है और स्त्री उसकी वासना के इशारों पर नाच रही है। यह बढ़ते जाते ब्यूटी सलून, स्लीमिंग सेन्टर और मसाज सेन्टर किस बात का संकेत देते हैं ? स्त्री का जितना नैतिक शोषण पश्चिम में हो रहा है, कदाचित् उतना हमारे यहां नहीं होता होगा। स्त्री वहां पति, भाई, पिता आदि की गुलामी (? ) नहीं करती, पर आफिस के `बास' की गुलामी तो फिर भी करनी ही पड़ती है।

`आपका बण्टी' के सम्बन्ध में डा० महीपसिंह ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया था[2] कि जो शकुन पहले किसी का हस्तक्षेप सहन नहीं करती, बाद में डा० जोशी के हस्तक्षेप को कैसे बरदाश्त कर लेती है ? शकुन का चरित्र ही उसका उत्तर है। उसके सारे कार्य-कलाप सहज रूप से सम्पादित न होकर , अजय की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही होते हैं। अजय को कुछ `कर दिखाने के' लिए वह कुछ भी बरदाश्त कर सकती है। शकुन के मन की कसक ही यही है :" सच पूछा जाय तो अजय के साथ न रह पाने का दंश नहीं है यह, वरन् अजय को हरा न पाने की चुभन है यह, जो उसे उठते-बैठते सालती रहती है।"[3] डा० जोशी के साथ उसका विवाह-सूत्र में बंधना भी उसकी ऐसी वृत्ति का परिचायक है। ऐसे विवाह भी अन्ततोगत्वा सफल नहीं होते, परन्तु वह एक और उपन्यास का विषय है।

बण्टी की दयनीय स्थिति के सम्बन्ध में डा० हेमचन्द्र जैन लिखते हैं :" इन दोनों के बीच बण्टी (जो) अपने आपको सदैव अनजाना-अनचाहा महसूस करता है। बण्टी ममी के पास रहते हुए भी पापा के प्यार का आकांक्षी बना रहता है और बाप से मिलते रहने पर भी मां के प्यार को पाते रहने की चाह

---

१. `पाड़ा ( भैंसा ) पाड़ा वढे ने झाडोनो खोडो काढे।`

२. `संचेतना' : दिसम्बर, १९७१ : पृ० ६२। ३. आपका बण्टी' : पृ० ३६।

उसके मन में बनी रहती है। मन्नू भण्डारी ने जहां एक ओर शकुन के मन की कसक को चित्रित किया है, वहीं दूसरी ओर छूटती चीजों के प्रति बण्टी के मोह को भी पूरी मनोवैज्ञानिकता से चित्रित किया है। अपने आसपास की सभी वस्तुओं के विषय में जानने की बण्टी की तीखी जिज्ञासा तथा तीव्रता से बदलने वाली अपनी स्थितियों के साथ `एडजस्ट' न हो पाने के दर्द को भी लेखिका ने बड़ी कुशलता से शब्दबद्ध किया है। बालक-मन का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण सामान्यत: सफल रहा है भले ही बण्टी के सोचने का मुहावरा उसका अपना न प्रतीत होता हो।"[1]

एक स्थान पर वकील चाचा शकुन से कहते हैं : "जब एक बार धुरी गड़बड़ा जाती है तो फिर जिन्दगी लड़खड़ा ही जाती है।"[2] और प्रस्तुत उपन्यास अजय, शकुन और बण्टी के जीवन की इसी लड़खड़ाहट को मर्मस्पर्शिता के साथ उकेरता है। इस वर्ष के नोबेल पारितोषिक विजेता कथाकार आइज़ाक सिंगर कथा की लेखन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखते हैं : "कथा लिखने के लिए केवल तीन चीज़ों की आवश्यकता रहती है -- एक तो कथावस्तु, बिना कथा के कथा नहीं लिखी जा सकती। जीवन के किसी खण्ड-विशेष को लेकर कला-कारीगरी करने से काम नहीं चलेगा। दूसरी महत्वपूर्ण चीज़ यह कि कथा लिखने की मेरी नीयत होनी चाहिए। तीसरी बात यह कि मुझे यह प्रतीति होनी चाहिए कि यह कथा केवल मैं ही लिख सकता हूं, दूसरा कोई नहीं।"[3] प्रस्तुत उपन्यास के लेखन में इन तीनों का संगम हुआ है।

नारी के दो रूपों -- अति बौद्धिक रूप ( इडा ) और अति भावुकता से युक्त रूप ( श्रद्धा ) -- की चर्चा कुछ वर्ष पूर्व `कामायनी' में जयशंकर प्रसाद कर चुके हैं। भावुकता जहां नारी-शोषण के मार्गों को खोलती है, वहां अति बौद्धिकता उसके पारिवारिक जीवन के मार्गों को बन्द कर देती है। अत: दोनों का सम्यक् सन्तुलन ही श्रेयस्कर है। `आपका बण्टी' ~~मन~~ इसी सत्य को ध्वनित करता है।

---

१. प्रकर : मई-जून, १९७२ : पृ० ४६।

२. `आपका बण्टी' : पृ० ३१-३२।

३. डॉ० सुरेश जोशी : मानवीना मन : लोकसत्ता दैनिक, १२ अक्टूबर, १९७८।

कृष्णकली ( १९६६ )

संवेदनशील नारी कथाकार शिवानी द्वारा प्रणीत प्रस्तुत उपन्यास 'कृष्णकली' के होने और नहीं होने की त्रासदी है। उनके अन्य उपन्यासों --'श्मशानचम्पा', 'माया पुरी' तथा 'विषकन्या' -- की भाँति इस उपन्यास में भी नारी-जीवन की व्यथा के अनेक स्तर खुलते हैं। शिवानी के उपन्यासों में रोमानी भावुकता से युक्त मोहकता व खिंचाव हमेशा मिलता है।

मुखपृष्ठ पर दिये गये वक्तव्य के अनुसार सौन्दर्य और कौमार्य से मण्डित कृष्णकली "शिवानी की लौह-संकल्पिनी मानस-सन्तान है।... एक अद्भुत चरित्र जो अपनी जन्मजात ग्लानि और अपावनता की कर्दम में भी प्रस्फुटित होकर कमल-सा फूलता है, सौरभ से महकता है और मादक पराग से अपने सारे परिवेश को मोहाच्छन्न कर देता है।"

कुष्ठरोग से पीड़ित माता-पिता की सन्तान कृष्णकली का जन्म ही अल्मोड़ा के कुष्ठाश्रम में हुआ था। उसकी माँ पार्वती तो उसे जन्मते ही मार डालना चाहती है पर विदेशिनी सन्त-सी डाक्टर पैट्रिक की करुणा उसे पन्ना की गोदी में डाल देती है। कुछ दिन पूर्व पन्ना की पुत्री पैदा होते ही चल बसी थी। अत: डा० पैट्रिक के आग्रह पर पन्ना उसे अपनी बेटी के रूप में रख लेती है।

नाचना-गाना पन्ना का मातृ- व्यवसाय है। उसकी माँ मुनीर प्रसिद्ध नृत्यांगना एवं नेपाल के राणा की रखैल थी। उसकी तीनों पुत्रियों-- माणिक हीरा, पन्ना -- के पिता अलग अलग थे। माणिक राणा की पुत्री थी। राजवंशी पिता के तीखे नैन-नक्श उवं सुन्दरता के साथ उसे उसकी क्रूरता, जिद्दीपन एवं अहंकार भी विरासत में मिले थे। हीरा लाट साहब के दामाद के हब्शी नौकर रोबी की पुत्री थी तो पन्ना मोहक व्यक्तित्व एवं रंगीन तबियत के धनी लाटसाहब के ए०डी०सी० रोबर्टसन की पुत्री थी। कार एक्सिडेन्ट में मुनीर एवं हीरा की मृत्यु हो जाने पर माणिक माता के व्यवसाय को संभाल ही नहीं लेती, प्रत्युत् उसे अनेकगुना बढ़ा भी देती है।

नृत्यांगना होने के बावजूद पन्ना विधुतरंजन मजूमदार को छोड़कर अन्य किसी को अपनी तर्जनी तक का स्पर्श नहीं होने देती । उसीसे पन्ना को प्रौढ़ावस्था में गर्भ रहता है । मारे संकोच के यह सत्य वह अपनी बड़ी बहन माणिक पर प्रकट नहीं होने देती और बिना सूचना दिये अल्मोड़ा चली जाती है, जहां उसका अन्तरंग परिचय डा० पैट्रिक से होता है । उसकी पुत्री 'क्षणिक अतिथि' के रूप में आकर चली जाती है, तब उसकी शून्यता को भरने के लिए मानो कली अवतरित होती है । कली के जीवन का घृणित इतिहास वह हमेशा गोपनीय रखती है ।

नूपुर की झंकार, तबले की थाप, सारंगी की संगत एवं विभिन्न राग-रागिनियों के बीच 'कली' का शैशव किलकारियां भरता है । कली के आने से 'पीली कोठी' में एक हलचल-सी मच जाती है । पन्ना से भी अधिक प्रेम उसे वाणी सेन -- उसकी तानी मासी -- से मिलता है । वाणी सेन अपना समस्त मातृत्व उस अबोध चंचला बालिका पर उंडेल देती है । उसका यह कृष्णाकली नाम भी वही उसके श्याम रंग को लक्ष्य करके गुरुदेव की एक रचना 'कृष्णाकली' के आधार पर रख देती है ।

कली के सम्बन्ध में पन्ना विधुतरंजन मजूमदार से बात करती है, पर वह साफ इन्कार कर जाता है । अत: उसके जीवन में कटुता घुल जाती है । माणिक की व्यावसायिक बुद्धि ने कली के श्याम सलोने रूप की इयत्ता को बहुत पहले ही आंक दिया था । अत: वह उसके भावी रूप की शीतल छाया में अपने बुढ़ापे का विश्राम ढूंढती है । किन्तु पन्ना कली को 'पीली कोठी' के विषाक्त वातावरण से दूर रखना चाहती है । वह नहीं चाहती कि उसके जीवन की लांछनाएं व्यालियां बनकर कली के उज्जवल भविष्य को डंस ले । परिणामत: दोनों में विवाद होता है जो उन्हें सदा के लिए अलग कर देता है । पन्ना रोजी ( डा० पैट्रिक ) की सहायता से पर्वतीय प्रदेश में चली जाती है जिससे उसके गर्हणीय जीवन पर सदा सदा के लिए पर्दा गिर जाय । कली को कान्वेण्ट के बोर्डिंग स्कूल में दाखिल किया जाता है । परन्तु मां-बाप के रक्त से प्राप्त तस्करी प्रवृत्तियां, उच्छृंखलता तथा अपने पिता के बारे में फैलते रहस्यमय वातावरण के थपेड़ों से उसके जीवन की नैया डगमगाने लगती है । कान्वेण्ट की रेवरेण्ड मदर के शब्दों में "लड़की को बनने-संवरने में जितनी रूचि है, उसकी आधी भी यदि पढ़ने में होती, तो यह हमारे कान्वेण्ट का नाम उज्जवल करती । ऐसी प्रखर बुद्धि की छात्रा हमारे कान्वेण्ट में

अरसे से नहीं आयी । पर इस नन्हे प्रखर मस्तिष्क की कुटिल चाल देखकर मैं सहसा विश्वास ही नहीं कर पाती कि यह भोली वर्जिन मेरी-के -से चेहरेवाली बच्ची ऐसा कर सकती है ?"[1] वस्तुत: वह अपने जन्म की अनजान उलझी हुई गुत्थी को सुलझाना चाहती है, पर सुलझा नहीं पाती और वही तनाव उसे अस्वाभाविक रूप से क्रूर, हृदयहीन एवं विद्रोहिणी बना रहा है । पन्ना के प्रति भी उसका ~~व्यवहार~~ व्यवहार इसी कारण से अत्यन्त रूखा रहता है ।

और एक दिन अचानक वह उस रहस्य को पा लेती है । वह पन्ना के संग रहने आयी थी । एक दिन वह सवेरे से ही निकल जाती है । उन दिनों विद्युतरंजन मजूमदार वहीं आया हुआ था । इस बीच में उसने राजनीति की दूधारू गाय से लाखों रूपये दुह लिये थे । पन्ना उसके बड़प्पन का भण्डाफोड़ कर उससे प्रतिशोध लेना चाहती है । अत: वह उसे फोन कर अपने बंगले पर बुलाती है । पर विद्युतरंजन की रामकहानी से उसकी कटुता धुल जाती है और वह कली के जीवन की पूरी कहानी विद्युतरंजन से कहती है । कली अकस्मात् बीच में आ गयी थी, पर विद्युतरंजन और पन्ना को देखकर छिप जाती है और इस प्रकार अपने जीवन के घृणित इतिहास से अवगत होती है ।

कली के जीवन में यहां से एक तीसरा मोड़ आता है । अपने जन्म की वास्तविकता उसे बुरी तरह से झकझोर डालती है । 'प्रेत और छाया' (इलाचन्द्र जोशी) का पारसनाथ अपने पिता के मुख से उसके नाजायज सन्तान होने के बारे में सुनकर जहां गर्हित जीवन की ओर डूबता जाता है वहां कली इस हीनता-ग्रन्थि से उत्पन्न प्रभुत्वप्राप्ति की कामना के लिए वर्जित प्रदेशों में विचरण करने लगती है । वह पन्ना को छोड़कर अपनी एक सहेली की आण्टी -- लारीन आण्टी -- के यहां कलकत्ता चली जाती है । लारीन आण्टी प्रत्यक्षत: पाल्ट्री फार्म चलाती थी पर वस्तुत: सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गियां वहां और भी थीं । कली की भोली मासूम सूरत आण्टी को भा जाती है और वह भी कुछ दिनों वहां महत्वपूर्ण मुर्गी का रोल अदा करती है । तत्पश्चात् वह बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थानों में माडलिंग का काम करती है । उन दिनों में उसका परिचय एक सम्भ्रान्त पहाड़ी

---

१. 'कृष्णकली' : शिवानी : पृ० ५५ ।

परिवार से होता है। यहाँ से प्रवीर, जया, माया, कुन्नी, दामोदर आदि पात्रों से सम्बन्धित एक समान्तर कथा चलती है। वह कुछ दिन इलाहाबाद विवयन के पास भी जाती है। विवयन की आण्टी उसे माँ का सच्चा प्यार देती है। कली को माँ का वात्सल्य केवल तीन पात्रों से मिलता है -- वाणी सेन, अम्मा ( पहाड़ी परिवार वाली ) और विवयन की इलाहाबाद बमले वाली आण्टी।

प्रवीर काबुल में विदेश मन्त्रालय के किसी अच्छे स्थान पर काम करता है। पत्नी के सम्बन्ध में उसकी पसन्द काफी ऊंची होने के कारण अभी तक अविवाहित था। कली से उसका परिचय एक बार पहले विचित्र परिस्थितियों में हुआ था, जब वह लोरीन आण्टी के साथ रहती थी। अत: उसके सम्बन्ध में उसकी कोई ऊंची धारणा नहीं थी। वह उसकी तेजस्विता, सौन्दर्य एवं प्रगल्भता से प्रभावित तो होता है पर पूर्वाग्रह के कारण उससे खिंचा हुआ रहता है और जब वे पूर्वाग्रह के बादल छंट जाते हैं तब वह पाण्डे परिवार का दामाद बन गया होता है। कली के हृदय में प्रवीर कहीं गहरे बैठ जाता है। वह नौकरी के लिए सिलान चल पड़ती है। रास्ते में वाणी सेन से मुलाकात होती है। फिर अचानक बीच रास्ते से उतर कर वापिस आती है। उपन्यास के अन्त में हम उसे इलाहाबाद में विवयन आण्टी के पास पन्ना, प्रवीर आदि के सानिध्य में कैन्सर जैसे असाध्य रोग से पीड़ित होकर दम तोड़ते हुए पाते हैं। दूसरे दिन प्रवीर जाने वाला था, अत: नींद की गोलियाँ खाकर वह अपने मृत्यु-वरण को पहले ही निमन्त्रित कर लेती है।

समय की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास सामन्तकालीन समाज एवं स्वाधीनता-प्राप्ति बाद के आधुनिक जीवन को चित्रित करता है। उच्च, सम्भ्रान्त, मध्यवर्गीय परिवेश के निर्माण में लेखिका की सूक्ष्म निरीक्षक दृष्टि ने वास्तववादी अभिगम को अपनाया है। विद्युतरंजन मजूमदार, पहाड़ी परिवार, पाण्डे परिवार, इलाहाबाद वाली आण्टी आदि सभी के चित्रण में लेखिका परिवेश को उसके वास्तविक परिप्रेक्ष्य में उभार सकी है जबकि यह भी उतना ही सत्य है कि अपनी रोमानी भावुकता के मोहाकर्षण में वह कुछ स्थितियों को अवास्तविकता से नहीं उबार सकी है। पन्ना और कृष्णकली वैभव एवं विलासिता की काजल-कोठरी में रहकर भी एक लम्बे अरसे तक अपने कौमार्य को अखण्डित रख पाती हैं। तन का कौमार्य तो कृष्णकली में अन्त तक बना रहता है, जबकि दोनों के माँ-बाप अत्यन्त विलासी तबीयत के बताये गये हैं। दूसरे जिन लोगों के बीच कृष्णकली रात-दिन काम करती

है, वहां अपने कौमार्य को सुरक्षित रख पाना आधुनिक जीवन-प्रवाहों को देखते हुए अविश्वसनीय लगता है।

शिवानी के उपन्यासों के सन्दर्भ में आकस्मिक संयोगों का जिक्र भी उल्लेखनीय हो जाता है। वे इतने अधिक संयोग रचती हैं कि उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है। प्रस्तुत उपन्यास में मुनीर की आकस्मिक मृत्यु, प्रवीर का अकस्मात् कली को दो-दो बार मिलना, कली द्वारा आकस्मिक रूप से अपने जन्म से सम्बन्धित कहानी को जान लेना, वाणी सेन से ट्रेन में मुलाकात आदि अनेक संयोगों का आश्रय लेखिका ने लिया है। शिवानी के अधिकांश उपन्यासों में नायिका की मृत्यु प्रेमी के सानिध्य में होती है। 'कृष्णकली' में भी उसी रूढ़ि को अंगीकृत किया गया है, अत: कई बार शिवानी के उपन्यास छायावादी गीति के आधुनिक संस्करण बनकर रह जाते हैं। उनके नारी पात्रों में संघर्ष की तपिश कम मिलती है। 'छाया मत छूना मन' की वसुधा, 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा और 'टेरनकोटा' की मिति भी तनहाई की खाई को पाटने में टूटती हैं, परन्तु उनकी टूटन में भी एक संघर्ष मिलता है। कृष्णकली की टूटन ओढ़ी हुई- स्वनिमन्त्रित लगती है। तथापि वस्तु-निरूपण की रोचकता एवं आधुनिक सन्दर्भों से युक्त भाषा की सजीवता व कमनीयता शिवानी को आधुनिकों की अग्रिम पंक्ति में समुपस्थित कर देती है।

## एक चूहे की मौत ( १९७१ )

'एक चूहे की मौत' बदीउज्ज़मां का प्रथम होते हुए भी कथ्य एवं संरचना दोनों दृष्टियों से एक सशक्त उपन्यास है। सरकारी तन्त्र एवं दफ्तरी परिवेश को लेकर कृष्णा सोबती ने 'यारों के यार' लिखा था। परन्तु जहां 'यारों के यार' में सोबतीजी ने दफ्तरी भ्रष्टाचार को उसके यथार्थ परिवेश में 'बोल्ड' कही जाने लायक भाषा-शैली में उधेड़ दिया था, वहां एक चूहे की मौत' में इस परिवेश की दमघोंटू मोनोटोनी का प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है।

हिन्दी में अति-कल्पनात्मक ( फैण्टसी ) शैली का यह नि:संदेह पहला उपन्यास है जो आज के व्यवस्था-तन्त्र पर व्यंग्य के माध्यम से एक करारी चोट करता है। हिन्दी के प्राध्यापक तथा गुजराती के कृती रचनाकार रघुवीर चौधरी का गुजराती उपन्यास 'एकलव्य' भी इसी शैली का उपन्यास है। यह व्यवस्था-तन्त्र समाज-जीवन में एक साधन, अत: साधक रूप में आना चाहिए : परन्तु उसके स्वयं साध्य हो जाने से वह बाधक सिद्ध हो रहा है और समाज-जीवन को बुरी तरह से आक्रान्त किये हुए है।

उपन्यास में फैण्टसी का अद्भुत प्रयोग किया गया है। 'चूहा' फाइल का प्रतीक है। फाइल से सम्बन्धित कार्य 'चूहा मारना' है और उसका कर्ता दफ्तर का क्लर्क-बाबू 'चूहेमार' है। इसी उपक्रम में आफिस के लिए 'चूहा-खाना', छोटे बाबू के लिए 'छोटा चूहेमार', बड़े बाबू के लिए 'बड़ा चूहेमार' पुरानी फाइलों को सुरक्षित रखनेवाले विभाग के लिए 'मुहाफ़िजखाना' तथा उसके बड़े बाबू के लिए 'मुहाफ़िज' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है।

आधुनिक शिक्षित व्यक्ति की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि उसे आजीविका के लिए वही काम करना पड़ता है जो उसकी आत्मा को स्वीकार्य नहीं होता। साहित्य में एम० ए० या विज्ञान में एम० एस० सी० करनेवाले युवक को किसी बैन्क या सरकारी दफ्तर में बिठा दिया जाता है जहां उसे अपनी रुचि व शौक से नितान्त भिन्न कार्य करना पड़ता है। यह चूहा मारना नहीं तो और क्या है ? व्यवस्था के इस ढांचे में ढलकर सभी एक-से हो जाते हैं -- बिना चेहरे के, व्यक्तित्वहीन। अत: लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास में पात्रों को 'ग', 'त', 'प' आदि कहकर नामविहीन अवस्था में रखा है। केवल पृ० ५८ पर 'ग' की प्रेमिका के रूप में 'सोनिया' का नाम आया है, क्योंकि उसका सम्बन्ध 'चूहेखाने' से नहीं है।

यहां आकर कला एवं साहित्य सम्पूर्णतया विस्मृत हो जाता है। चूहों के साथ व्यक्तित्व भी एक 'चूहा' बनकर रह जाता है। जो यहां के माहौल को आत्मसात करते हुए उसके घृणित जीवन में रस-बस जाता है

-- चूहों को मारने में अधिकाधिक योग्यता अर्जित करता जाता है -- वह तो सुखी हो सकता है पर जो ऐसा नहीं कर पाते उनकी स्थिति बड़ी दयनीय होती है। उपन्यास का नायक और उपनायक ऐसा नहीं कर पाते, अत: उनके जीवन का करुण अन्त होता है।

उपन्यास का नायक 'त' चूहेखाने में नौकरी करने के लिए विवश है। उसकी एक बहिन है। वह सोचता है कि उसके विवाह के उपरान्त वह इस आत्मघाती काम को त्याग देगा। उसका काममें मन नहीं लगता पर किसी प्रकार अपनी आत्मा को दबाकर जीवित रहता है। ~~वह चूहेखा~~ उसका मित्र 'ग' एक चित्रकार है। वह चूहेमारों पर निरन्तर व्यंग्य कसता रहता है। वह चूहेखाने के नियमों का पालन भी नहीं करता और एक दिन 'चूहाखाना' छोड़कर चला जाता है, पर अन्ततोगत्वा वह इस तन्त्र के सामने घुटने टेक देता है -- आत्महत्या कर लेता है। क्योंकि वह महसूस करता है कि "सारी दुनिया ही एक बहुत बड़ा चूहेखाना है जहां चूहेमार बनकर ही ज़िन्दगी बसर की जा सकती है। जो चूहे नहीं मार सकता उसके लिए इस दुनिया में कोई जगह नहीं है।"[1]

'त' भी कुछ दिनों तक अन्यमनस्क-सा हो जाता है। 'चूहों' का ढेर हो जाता है। बड़ा चूहेमार नाराज़ होकर उसे 'चूहों' के शवागार में भेज देता है, जहां 'चूहों' के शवों को देखते- देखते वह स्वयं चूहों सा दयनीय हो जाता है। पृ० १६२ के उपरान्त लेखक ने उपन्यास को पूर्णतया फैण्टसी का रूप दे दिया है।

चित्रकार 'ग' का व्यक्तित्व विद्रोही चित्रित किया गया है। वह 'चूहेमारों' की कटु आलोचना करता है। वह तन्त्र के साथ समझौता नहीं कर पाता, अत: भूखों मरता है। वह सोनिया के साथ कुछ समय रहता है। सोनिया अपने शरीर का व्यापार करते हुए भी उसे जी-जान से चाहती रही। पर एक दिन वह 'प' के हाथों अपने सब चित्र बेच देता है। 'प' व्यवस्था से जुड़ा हुआ एक मक्कार चित्रकार है। 'ग' हमेशा उससे नफरत करता था। चित्रों कोबेचने से उत्पन्न आत्मग्लानि में भरकर वह आत्महत्या कर लेता है। उसीके चित्रों से 'प' नाम कमाता है। चित्र 'ग' के हैं पर 'प' के पास प्रसिद्धि है। ~~ये~~ 'ग' के चित्रों को कोई पूछता भी नहीं था। वे ही चित्र 'प' के होकर

१. 'एक चूहे की मौत' : बदीउज़्ज़माँ : पृ. ७३।

कला के उच्चतम शिखरों का स्पर्श करने लगे ।

उपन्यास में ऐसे अनेक स्थानों को लेखक ने तलाशा है । दफ्तरी जीवन के प्रत्येक पहलू को उजागर किया गया है । दफ्तर, फाइलों, अफसरों की भ्रष्ट ज़िन्दगी, क्लर्कों की आपसी गुटबन्दी और ईर्ष्यावृत्ति आदि का बड़ा ही सजीव चित्रण लेखक ने किया है, जिससे यह अनुभूति हुए बिना नहीं रहती कि लेखक इस ज़िन्दगी का बहुत समीपी भोक्ता रहा है ।

डा० हेमचन्द्र जैन के शब्दों में " एक प्रकार से इस उपन्यास को पिछले वर्षों में प्रकाशित हिन्दी का पहला प्रयोगधर्मी उपन्यास -- इस अर्थ में कहा जा सकता है कि चूहे की प्रतीकात्मकता का सहारा लेकर बदीउज़्ज़माँ ने `फैण्टसी' के परिवेश में ज़िन्दगी की सच्चाई को पहले खोजा है और फिर उसे पूरी ताकत से कह डाला है । यही वजह है कि वह उपन्यास आज के व्यवस्था-तन्त्र और उसके सबसे घटिया पक्ष नौकरशाही की दयनीयता, क्रूरता और अर्थ-हीनता की अभिव्यक्ति का साफ-सुथरा प्रतीकात्मक दर्पण बन गया है ।"[१] `छाको की वापसी' ( १९७६ ) बदीउज़्ज़माँ का ही नवीन उपन्यास है, जो एक प्रकार से उनकी कहानी `परदेसी' का रूपान्तर है[२] जिसमें लेखक ने छूटे हुए वतन के दर्द और अपनी मिट्टी की कशिश को गहराई से अंकित किया है ।

## मुरदाघर ( १९७४ )

`कटा हुआ आसमान' के लेखक श्री जगदम्बाप्रसाद दीक्षित की यह दूसरी औपन्यासिक कृति मानवीय संवेदना की घनीभूत अभिव्यक्ति है । नियॉन लाइट से जगमग सफेद इमारतोंवाली सफेदपोश बस्ती के कोन्ट्रास्ट में बम्बई की एक गन्दी, घिनौनी, सड़ांध से भरी हुई झोंपड़पट्टी की सच्ची यथार्थ तस्वीर को लेखक ने इस खूबी से उभारा है कि हमारे सभ्य समाज की परत-दर-परत खुलती गयी है और वह अपने नग्न स्वरूप के साथ संवेदनशील पाठक की चेतना के कठघरे में

---

१. प्रकर : मई-जून, १९७२ : पृ० ५३ ।

२. आलोचना : जनवरी-मार्च, १९७६ : पृ० ९६ ।

आकर उपस्थित हो जाता है। महानगरों की ~~इमारतें~~ इमारतों के समान्तर फुटपाथों पर भी लाखों-करोड़ों मनुष्य बसते हैं, जो कुत्तों, कौवों और रेंगते हुए कीड़ों से भी बदतर जिन्दगी बसर करते हैं और जिन्हें समाज की जूठन और गन्दगी के अतिरिक्त कुछ समझा नहीं जाता। उन लोगों की इच्छा-आकांक्षा, सपने, आशाएं-निराशाएं, अच्छाइयों-बुराइयों को, उनकी अभागी-अपाहिज जिन्दगी की अभिशप्त नियति को, उनकी सड़ांध से घिरी। धूल और कीच में बरबस औंधी पड़ी, फुटपाथ पर एकदम सपाट गिरी-लेटी मजबूर जिन्दगियों के आंसू-रोते दर्द को ज्यों का त्यों उनके अपने परिवेश एवं शैली में चित्रित कर लेखक ने अपने दुस्साहस का परिचय दिया है। इस विषय पर मराठी में 'माहिम ची झोंपड़पट्टी' नामक एक उपन्यास उपलब्ध होता है। उर्दू के लब्ध-प्रतिष्ठ कथाकार कृष्ण चन्दर ने भी बम्बई के इस घृणित जीवन को अपने उपन्यासों तथा कहानियों में चित्रित किया है। के० अब्बास की एक फिल्म 'शहर और सपना' भी इसी विषय को लेकर फिल्मायी गयी थी। पर हिन्दी में जिन्दगी के इस अभिशप्त अछूते पक्ष को उसके यथार्थ रूप में सम्भवत: दीक्षितजी ने ही उजागर किया है।

झोंपड़पट्टी के इस दुर्गन्धयुक्त कोढ़युक्त जीवन में सभ्य समाज के सारे नैतिक मूल्य धराशायी हो गये हैं। इसमें एक-एक दो-दो, और अठन्नी या चाय-ठर्रा के एक-एक कप में शरीर का सौदा करनेवाली, खड़िया के पाउडर से चेहरों को थोपनेवाली, ग्राहक के लिए एक-दूसरे पर झपटनेवाली तथा गाली-गलौच करनेवाली पर फिर दूसरे ही क्षण एक-दूसरे के सुख-दु:ख में साथ देनेवाली मैना, पार्वती, लैला, नग्मा, मरियम, बशीरन, नूरन, हीरा, जमिला, जैसी वेश्याएं : इसमें आत्माभिमानहीन शारीरिक श्रम से कतरानेवाले और दो नम्बर के व्यवसाय द्वारा रातोंरात हाजी शेठ की तरह धनवान होने के स्वप्न में राचने-वाले पोपट जैसे जुआरी, शराबी मवाली पति हैं जो केवल ढाई रूपये में मैना जैसी स्त्री को पत्नी रूप में खरीदकर उससे पेशा करवाते हैं। इनके सपने बड़े ऊंचे हैं। उन्हें अपने फटे हुए कपड़े और टूटे हुए दरवाजे नहीं दिखते। उन्हें दीखती है दो नम्बर की कमाई से कथित शानदार जिन्दगी जिसके पीछे अन्धी भागदौड़ में कई बार रेल की पटरी पर कटकर उनके सपने बीच राह भीड़ में अन्धे भिखारी के परचून की तरह बिखर जाते हैं। इसमें रहते हैं किस्तय्या जैसे शराबवाले-मटकेवाले जो पुलिस

को किश्तें देकर खून का पसीना करनेवाले मजदूरों के पसीने की कमाई से किश्तों के सपने बांटते हैं। उसमें आते हैं ऐसे मनचले जो वेश्याओं द्वारा पीटकर तथा बुरी तरह से अपमानित होकर भी मुफ्त में उनके शरीर से खिलवाड़ करने की ललक रखते हैं। इसमें लक्ष्मी जैसे हिजड़े भी हैं जो प्रकृत्या हिजड़ा न होकर भी कुछ न कर सकने के असामर्थ्य में इस ~~व्यवस्था~~ व्यवसाय को अपना लेते हैं। इसमें शरणागत असहाय वेश्याओं को आश्रय देनेवाले मानवतावादी मर्द-हिजड़े भी हैं तथा वेश्याओं को भीतर से चाहकर बाहर से दुत्कारनेवाले सभ्य समाज के पुरुष हिजड़े भी हैं।

इसमें मिक्दार गंदगी पर भिनभिनाती मक्खियाँ जैसे गन्या, राजू, मुहम्मद, गोपू, सोन्या जैसे बच्चे हैं जो होटल के उच्छिष्ट कचरे में रोटी, पाउं या हड्डी के एकाध टुकड़े को पा जाने से अपने को भाग्यशाली समझते हैं। पेट की यह दोहरी आग की लपट उन्हें कोढ़ियों और भिखारियों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देती है। क्रूर नियति के थपेड़ों ने उनके आनन्द-प्राप्ति के मार्ग को भी क्रूर बना दिया है। वस्त्राभाव में एकान्त स्नान लेते असहाय दीन-हीन मनुष्य पर हंसने और पत्थर फेंकने में उन्हें बूढ़े अन्ध भिखारी पर पत्थर फेंकने से भी अधिक आनन्द आता है। कल के भारत के भावी नागरिकों की यह सड़ियल तस्वीर महानगरीय जीवन के क्रूर यथार्थ को रूपायित करने में अत्यन्त सफल हुई है। इनमें से ही कोई पोपट, किस्तय्या, जब्बार, नत्थू या दौलत होगा। यही उनकी नियति है।

झोपड़ों और फुटपाथों की इस दुनिया में रोशनी भी आती है तो अंधेरा लेकर। बच्चे के जन्म पर यहां खुशी नहीं मातम मनाया जाता है क्योंकि नवजात शिशु उनके व्यवसाय के कपाटों को क्रूरता से बन्द कर देता है। मरियम को पुत्र-प्राप्ति का आनन्द नहीं क्योंकि पेट की आग ने मातृत्व की ममता के समुद्र को सोख लिया है। बशीरन अपनी वृद्धावस्था से इसलिए चिन्तित है कि तब पुलिसवाले उसे पकड़ेंगे नहीं और जो कभी कभी बीस-पचीस दिन अच्छा खाना मिल जाता है, वह भी नसीब नहीं होगा। मुरदाघर में कटे हुए पोपट के शव को देखने के लिए उसकी पत्नी मैना के साथ जानेवाली बशीरन को वापिस लौटकर ग्राहक को शीघ्र पकड़ने की चिन्ता है क्योंकि तभी उसके दोपहर का खाना जुट पायेगा।

वस्तुत: मुरदाघर वह स्थान नहीं जहां शव रखे जाते हैं, वरन् यह गन्दी घिनौनी, घृणित बस्तियां ही मुरदाघर हैं। आत्माभिमान शून्य, मूल्यहीन, चेतनाहीन जिन्दगियां को जीने वाले ये लोग चलती-फिरती सड़ती लाशें नहीं तो और क्या है ? लेखक द्वारा अभिप्रेरित यह अर्थ अपनी सटीकता एवं व्यंजकता में अनूठा है। यह भी कितनी विडम्बना है कि जिन्दगीभर मूल्यहीनता के बोझ को ढोनेवाले पोपट के शव की भी एक उपयोगिता होगी, उसका भी कोई मूल्य होगा। मुरदाघर के कर्मचारी के शब्दों में " पोपट का शव " वो छोकरा लोग जो इधर पढ़ने के वास्ते आता.. उनका काम में आ जायेगा। हड्डी का भाव भोत जास्ती है आजकाल। पूरा जिसम का ढांचा का भाव तीन सौ रुपया चलता है।"[१]

पर ' मुरदाघर ' केवल इन जीवित मुरदा पात्रों से ही अटा-पड़ा नहीं है, प्रत्युत इसमें लेखक ने स्थापित व्यवस्था की विसंगतियों एवं अन्तर्विरोधों के झंझावात में मानवता के झिलमिलाते दीयों के अस्तित्व-संघर्ष एवं मानवीय जिजीविषा के द्वन्द्व को एक मानवीय संवेदनशील दृष्टि एवं दर्द के साथ उभारा है। इसके अभाव में प्रस्तुत कृति एक सामान्य उपन्यास बनकर रह जाती। अनेक मार्मिक स्थलों पर लेखक ने अपनी प्रतिभा की उंगली रख दी है।

तड़ीपार होते हुए भी पुलिस के डर को भुलाकर जब्बार का अ अपनी पत्नी हसीना और पुत्र अमजद के लिए, उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए, आना चोरी करना तथा मरणासन्न पिटाई के बावजूद अपराध को अस्वीकृत करते जाना : रोजी का जब्बार के लिए जीवन में पहली बार भीख मांगना : मैना के साथ हमेशा झगड़ते रहने पर भी पोपट की मृत्यु पर बशीरन का उसके साथ जाना : स्वयं मैना का पोपट जो पति नहीं केवल पति का तर्क है और जिसे वह सदैव गालियां देती रहती है -- के लिए कलपना-बिलखना : काठियावाड से भागी हुई, प्रेमी द्वारा प्रवंचित नयी लड़की के प्रति मैना की सहानुभूति : लॉक-अप में चमेली को दस्त लगने पर बशीरन का उद्विग्न होना : आसन्नप्रसवा मरियम के लिए जमिला का ग्राहक छोड़कर उसके पास बैठना : नशे में धुत पार्वती का उस कार्य में सहायता

---

१. ' मुरदाघर ' : जगदम्बाप्रसाद दीक्षित : पृ० २०३।

करना : मासियम के बच्चा होने पर सब वेश्याओं द्वारा उसे खिलाना आदि ऐसे ही स्थान हैं जहां लेखक ने मानवीय संवेदनाओं को तलाशने का सच्चा यथार्थवादी प्रयास किया है। प्रगतिवादी आलोचक डा० शिवकुमार मिश्र का यह कथन यहां उल्लेखनीय है : " यथार्थवादी साहित्य मनुष्य को निराशावादी और नियतिवादी भी नहीं बनाता। मनुष्य को उसके परिवेश से पूर्णतः परिचित कराता हुआ, वह उसे विरूपता के प्रति सजग करता है, ताकि वह उसके उन्मूलन के लिए सन्नद्ध हो सके। ' समाजवादी यथार्थवाद ' का समूचा कृतित्व मनुष्य की उदात्त जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था का प्रमाण है। जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है, यह सबको मनुष्यता की थाती समझता है और मनुष्य को उसकी उपलब्धि करने को प्रेरित करता है।"[१] ' मुरदाघर ' के लेखक ने जीवन के इस कर्दम में भी मानवीय भाव-सौन्दर्य को उपेक्षित नहीं रखा है। इसकी पुष्टि तो उपरिनिर्दिष्ट कुछ उदाहरणों से स्वतः ही हो जाती है।

इसमें लेखक ने स्थापित व्यवस्था व पुलिस की कारवाही पर भी करारे प्रहार किये हैं। गरीब लड़की को वेश्या बनानेवाली पूरी प्रक्रिया का लेखक ने बखिया उधेड़ दिया है। किस प्रकार ' होम ' से निरीह निर्दोष लड़कियों को उनके ' भाई ' (?) ' होम ' के अधिकारियों की मुट्ठी गर्म करके वहां से निकालकर उन्हें वेश्यालयों में डाल देते हैं। दारू बेचनेवाले, वरली-मटकावाले तथा तस्करी में पड़े हुए लोग पुलिस द्वारा संरक्षित है। पुलिस की ' रेड ' होने से पहले उन्हें खबर मिल जाती है क्योंकि उनकी किश्तों से ही पुलिस का कारोबार चलता है। स्मगलर के यहां चोरी करनेवाले को पुलिस के अमानुषी अत्याचारों से गुज़रना पड़ता है। नत्थू के शब्दों में --" किधर भी चोरी करना... पन इस्मगलर... दारूवाला... रण्डीवाला.. इधर कभी भूलके भी नहीं जाने का। नई तो पोलिस जान से डालेंगा मार-मार के। कभी नहीं छोडेंगा... सारा पोलिसखाता इधर पेच चलता।"[२]

कहीं पर भत्था देनेवाला बाबू अपराधियों का भत्था मारता है तो कहीं पर जेल में ही भत्थे में से उन्हें शराब-चरस आदि मादक चीजें पहुंचायी

---

१. ' यथार्थवाद ' : पृ० १५३।

२. ' मुरदाघर ' : पृ० १७६।

जाती है। लेखक की व्यंग्यात्मक पैनी शैली कोर्ट-कचहरियों तथा जज-वकीलों को भी नहीं छोड़ती। परन्तु वहां भी लेखक की मानवतावादी दृष्टि कुछ करुण पात्रों को तराशना नहीं चुकती। कोर्ट के इर्दगिर्द घूमते हुए बूढ़े वकील जो एक-दो रुपयों में एफीडेविट, नोटिस, पिटीशन के लिए दयनीय तरीकों से मुवक्किलों के पीछे दौड़ते हैं उनको लक्ष्य करके कुछ वेश्याएं कहती हैं --" सच्ची... अइसाच तो अपुन लोक भी करता। नई क्या।"[1]

और इस सारे यथार्थमूलक संवेदना बिम्ब को उभारने के लिए लेखक ने 'बादल का टुकड़ा', 'काले आकाश का काला सितारा', 'नशे में चूर नामालूम के नाम गालियां बकनेवाला शराबी', 'कचरे के ढेर में कुछ ढूंढनेवाला पागल' जैसे सार्थक प्रतीकों का सुन्दर विनियोग किया है।

उक्त घटनाओं और पात्रों में हम ज़िन्दगी की भट्ठी में झुलसते हुए नर-कंकाल के मानवीय स्पंदनों को महसूसते हैं। इनके अभाव में चित्र अधूरा रहता। यह मुरदाघर एक ख्वाबगाह भी है। पोपट का एक सपना है। मैना गृहिणी होकर सम्मानित जीवन के स्वप्न को देख रही है। रोज़ी अपने अन्तिम प्रेमी -- जिसके साथ उसने 'फोटू' खिंचवाया है -- का स्वप्न देखती है। जब्बार अपनी पत्नी व पुत्र के उज्जवल भविष्य के लिए चिन्तित है। पर कोई सपना पूरा नहीं होता। अतः यह ख्वाबगाह सपनों का मुरदाघर भी है।

निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि दौलितजी मानवीय संवेदना के सशक्त कलाकार हैं। उनके प्रथम उपन्यास 'कटा हुआ आसमान' में जहां बम्बई की मध्यवर्गीय ज़िन्दगी को उसके यथार्थ परिप्रेक्ष्यों में उद्घाटित किया है गया है, वहां 'मुरदाघर' में उस समाज के कटु यथार्थ को कटु यथार्थ की ज़बान में सम्प्रेषित किया गया है जिसे श्रेणीबद्ध करना अत्यन्त कठिन है। जो वस्तुतः जीवित मुरदों का समाज है।

---

१. 'मुरदाघर' : पृ० १४४।

अन्य उपन्यास : डा० राही मासूम रज़ा का उपन्यास 'दिल एक सादा कागज़' हमारे जीवन की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विसंवादिता एवं विद्रूपता को सामर्थ्य के साथ उद्घाटित करता है। मुस्लिम समाज की अनेक विकृतियों को भी इसमें लेखक ने साहस के साथ उद्घाटित किया है। उपन्यास का व्यंग्यात्मक 'टोन' आद्यन्त सफल रहा है। साहित्य, कला और फिल्म जीवन पर भी लेखक ने अनेक व्यंग्य किये हैं। 'फागुन के दिन चार' (उग्र) तथा 'कथा-सूर्य की नयी यात्रा की भांति इसमें लेखक ने फिल्मी दुनिया की नग्न-वास्तविकता को उसके सही परिप्रेक्ष्य में चित्रित किया है। उपन्यास की भाषिक-संरचना तथा अनूठा शिल्प-सौष्ठव श्लाघनीय है। 'हिम्मत जौनपुरी' में लेखक ने हिम्मत जौन-~~पु~~ पुरी की जीवनी को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि उसके माध्यम से गाजीपुर और बम्बई का जीवन सजीव हो उठा है। 'टोपी शुक्ला' में ~~लेखक~~ राहीजी ने एक मध्यवर्गीय युवक की कथा-व्यथा को वाणी प्रदान की है। बलभद्रनारायण शुक्ल उर्फ 'टोपी शुक्ला' 'एक प्रकार से हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक हैं जिसके माध्यम से हिन्दू और मुस्लिम गृहस्थ की सांस्कृतिक फांकी और द्विविधाग्रस्त जीवन, जिसके मूल में धार्मिक विश्वास है, सामने आया है।'[१]

'राग दरबारी' में जहां श्रीलाल शुक्ल ने ग्रामीण परिवेश को लिया है, वहां 'सीमाएं टूटती हैं' में महानगर दिल्ली के परिवेश को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास की कथा अत्यन्त क्षीण है, परन्तु उसके माध्यम से ~~लेखक-सहसा-में-~~क्षिप्र गति से परिवर्तित जीवन-मूल्यों को उकेरने में लेखक सफल हुआ है। 'अज्ञातवास' और 'आदमी का जहर' लेखक के अन्य उपन्यास हैं, परन्तु श्रीलाल शुक्ल की अक्षय कीर्ति का आधार तो केवल 'राग दरबारी' ही है।

आलोच्य काल में इस क्षेत्र में लेखिकाओं का योगदान असाधारण रहा। टपरेवाले' (कृष्णा अग्निहोत्री), बंटता हुआ आदमी (निरूपमा सेवती), 'उसके हिस्से की धूप' (मृदुला गर्ग), 'इन्नी' (मालती परूलकर), 'महानगर की मीता', दूरियां, (रजनी पनीकर), 'मेरे संधिपत्र' (सूर्यबाला सिंह),

---

१. 'हिन्दी साहित्य - एक परिचय' : डा० त्रिभुवन सिंह : पृ० ३६६ ।

'आंखों की देहलीज' और 'उसका घर' ( मेहरुन्निसा परवेज ), पाषाणयुग' ( मालती जोशी ), 'बेघर' ( ममता कालिया ) आदि का औपन्यासिक कृतित्व अवश्य उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

शशिप्रभा शास्त्री के सद्यप्रकाशित उपन्यास 'सीढ़ियां' का परिवेश अपनी नवीनता के कारण विशिष्ट कहा जा सकता है। इसमें लेखिका ने अस्पताल से सम्बन्धित कुछ डाक्टरों तथा लेडी डाक्टरों आदि के सामाजिक जीवन के उतार-चढ़ाव और उनके मानसिक द्वन्द्वों को बहुत ही कुशलता के साथ अंकित किया है। नवोदित कथाकारों में डा० सुरेश सिनहा तथा नरेन्द्र कोहली का नाम भी उल्लेखनीय है। 'एक और अजनबी', 'तुमने मुझे पुकारा तो नहीं', 'सुबह अन्धेरे पथ पर' प्रभृति डा० सुरेश सिनहा की उल्लेखनीय कथा-कृतियां हैं। नरेन्द्र कोहली ने 'दीक्षा', 'अवसर' प्रभृति उपन्यासों में राम-कथा को नये सन्दर्भों में प्रस्तुत किया है।

इधर के लघु उपन्यासों में 'कथाचक्र' ( पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ) और 'रानी नागफनी की कहानी' ( हरिशंकर परसाई ) अपने प्रयोगगत वैशिष्ट्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। 'कथाचक्र' में प्रसिद्ध आलोचक एवं निबन्धकार पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अम्बादत्त व्यास से लेकर अज्ञेय तक की औपन्यासिक शैली के आधार पर कुमार इन्द्रदत्त की कथा का विकास इस प्रकार दिखाया है कि पाठक को औपन्यासिक विधा का क्रमबद्ध ज्ञान शिल्प एवं शैली के सन्दर्भ में हो जाता है। 'रानी नागफनी की कहानी' पुरानी लोककथा शैली -'एक था राजा' - में लिखा गया है। जबकि "वास्तव में परसाई ने इस लघु उपन्यास में आधुनिक प्रेम तथा प्रेमी युगलों की मनोवृत्ति को बड़े सहज ढंग से अनावृत किया है।... आधुनिक फिल्मी प्रेम तथा 'लव इन फर्स्ट साइट' की लकीर के फकीर तथा युवक-युवतियों के फैशन पर लेखक ने बड़ी मीठी चुटकी ली है।"[१]

"वे दिन', 'दूसरी तरफ', 'अपने अपने अजनबी' प्रभृति उपन्यासों की भांति मीनाक्षी पुरी द्वारा प्रणीत उपन्यास 'जाने पहचाने अजनबी' भी विदेशी भूमि पर आधृत हैं, परन्तु 'वे दिन' और 'अपने अपने अजनबी' जहां

---

१. 'हिन्दी लघु उपन्यास' : डा० घनश्याम मधुप : पृ० २०६-२०७।

पश्चिमी जीवन की अभिशप्त एकाकिता के कारण आख्यान हैं, वहां शेष दो उपन्यास यूरोप-अमेरिका में बसे भारतीय मानस लोगों के मानस का चित्रण करते हैं। 'दूसरी तरफ' में भारत से इंग्लैण्ड गये एक भारतीय युवक का मोहभंग बखूबी चित्रित हुआ है। उसे वहां जाकर 'फिट' होने के दौरान जगह-जगह 'मिस फिट' होना पड़ता है। जबकि 'जानेपहचाने अजनबी' में इंग्लैण्ड में रहनेवाले एक एक छोटे से भारतीय समुदाय का चित्रण है जो निर्मम होकर अपने सांस्कृतिक मूल्यों देशाभिमान और ओढ़ी हुई संस्कृति के खोखलेपन के प्रति बहुत सचेत है और वह चेतना भावुकता के स्तर पर ही चित्रित नहीं की गयी पूरे उपन्यास की मूलभूत संवेदना के धरातल पर व्याप्त है। उपन्यास चेतना प्रवाह और भावबोध दोनों स्तरों पर एक साथ चलता है और पाठक के मनमें सिर्फ हमदर्दी ही पैदा नहीं करता उसकी समूची आत्मा को फिंफोड़ जाता है।'[1]

गुजरात की क्रिश्चियन हिन्दी लेखिका शीला रोहेकर का सद्य-प्रकाशित उपन्यास 'दिनान्त' भी एक उल्लेखनीय औपन्यासिक कृति है जिसे अभी हाल ही में यशपाल पुरस्कार एनायत हुआ है। इन के अतिरिक्त अन्य अनेक रचनाएं हैं जिनकी चर्चा यहां स्थानाभाव के कारण नहीं की जा सकती, अत: उनकी एक विस्तृत सूची परिशिष्ट 'ग' के अन्तर्गत दी गयी है।

**निष्कर्ष :** अध्याय के समग्रावलोकन से यह सहज रूप से कहा जा सकता है कि वस्तु एवं परिवेश की व्यापकता पिछले काल की तुलना में बढ़ी है। आलोच्य काल में ग्रामीण जीवन के विभिन्न आयामों को उद्घाटित करनेवाली अनेक सशक्त रचनाओं का प्रणयन हुआ है जिन में 'अलग अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ', 'आधा गांव', 'राग दरबारी' प्रभृति मुख्य हैं। प्रथम तीन में जहां गांवों के विघटन एवं मूल्यहीनता के प्रति दर्द की भावना सन्निहित है, वहां अन्तिम रचना में उसे व्यंग्य का विषय बनाया गया है। 'धरती धन अपना' तथा 'एक टूकड़ा इतिहास' में सदियों से प्रताड़ित हरिजन- चमार की समस्याओं को अनुभू- मानवीय संवेदना के साथ उकेरा गया है और उनका शोषण करनेवाले तत्वों को अनावृत किया गया है। नगरीय परिवेश के उपन्यासों में 'अन्धेरे बन्द कमरे', 'सामाएं टूटती हैं' ~~न-और-नरक~~ अन्तराल, 'मछली मरी हुई', 'रुकोगी नहीं राधिका ?', 'छाया मत छूना मन', प्रभृति मुख्य हैं। इन उपन्यासों में नगरीय-समाज की नाना समस्याओं का बेलाग चित्रण

१. नरेन्द्रकुमार: पुस्तक-परिचय: जुलाई १९७७।

उपलब्ध होता है। 'मुरदाघर', '~~नदी~~' अन्धेरे बन्द कमरे', जैसे उपन्यासों में महानगरीय स्लम-विस्तारों के जीवन को भी उद्घाटित किया गया है। स्वातन्त्र्-योत्तर मोहभंग, समस्त जीवन में व्याप्त कथनी -करनी का अन्तर, निराशा और कुण्ठा आदि के कारण साहित्य में व्यंग्य का अनुपात बढ़ रहा है। 'राग दर-बारी', 'दिल एक सादा कागज', 'कथा-सूर्य की नयी यात्रा', 'एक चूहे की मौत', 'एक पंखड़ी की तेज़ धार,' प्रभृति उपन्यासों में हम व्यंग्य के इस पैनेपन को महसूस सकते हैं। स वस्तु-निरूपण की मौलिकता, परिवेश की यथार्थता, तथा भाषा और शैली-शिल्प की नवीनता के आधार पर निम्न लिखित कृतियों को आलोच्य काल की उपलब्धि के रूप में मान सकते हैं: 'अलग अलग वैतरणी', 'जल टूटता हुआ', 'आधा गांव', 'राग दरबारी', 'वे दिन', 'अन्धेरे बन्द कमरे' 'मुरदाघर', 'धरती धन न अपना', 'रुकोगी नहीं राधिका ?' ~~प्रभृति कृतियों को~~। संक्षेप में आलोच्य काल के उपन्यास अपने समय की पहचान को देने में सर्वथा समर्थ कहे जा सकते हैं।